

UNIVERSAL  
LIBRARY

OU\_182606

UNIVERSAL  
LIBRARY



OUP—67—11-1-68—5,000.

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. **H 81**  
**U 48 M**

Accession No. **H 3475**

Author **उमादत्त .**

Title **मानस - गङ्गा .** 1956

This book should be returned on or before the date last marked below



विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन—१३७

# मानस-गङ्गा

लेखक

उमादत्त, बी. ए., एल एल. बी.

होशियारपुर

विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन

१९५६

Checked 1969

# अधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण

२०१३ (1956)

मूल्य २)



*Printed at*  
The V. V. R. Institute Press  
*and published for*  
The V. V. Research Institute  
*By*  
DEV DATTA Shastri, V. M.,  
at Hoshiarpur (India)

प्रकाशक तथा मुद्रक  
देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,  
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान,  
प्रेस, साधुआश्रम,  
होशियारपुर ( भारत )

## भेंट

मेवा में—

श्रीमती लक्ष्मी देवी जी,

भारवा !

तुम्हें देखता हूँ तो मुझे श्री रामचन्द्र की माता कौशल्या का ध्यान आ जाता है। सोचता हूँ, अपने जीवनकाल में वह भी तुम्हारी तरह बहुत प्रातः उठकर अपने निवास में हरिभजन गाती गुनगुनाती फिरती होंगी और उसके पश्चात् सन्ध्या उपासना करने में लग जाती होंगी। यही उनकी सदा की दिन-चर्या रही थी। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि जब भारद्वाज मुनि ने महाराज दशरथ की रानियों से परिचय करने की इच्छा प्रकट की तो भरत जी ने उंगला से महारानी कौशल्या को दिखा कर कहा कि भगवन् ! यह जो अनशन से कृश और देवता के समान शान्ति की मूर्ति दिखाई पड़ती हैं, वह हमारी बड़ी माता कौशल्या हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि उनकी भी तुम्हारी तरह लम्बी, दुबली, पतली, कोमलांगी, गर्भार, मितभाषिणी, मिताहारी, सदैव पूजा-पाठ में रत रहने वाली और प्रत्येक क्षण 'ओम्' नाम का जाप करने वाली देवी स्वरूपिणी तथा धर्मपरायणा सौम्य मूर्ति होगी। बहुत सम्भव है, मेरा यह अनुरूपता का अनुमान गलत हो, तो भी इससे मुझे कितना सुख और आनन्द मिलता है, यह मैं ही जानता हूँ।

इस संग्रह को तुम्हें भेंट करने का यह गौण कारण है, मुख्य कारण है, मेरी अपनी स्वार्थपरता। वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ

उपन्यास तथा गल्प लेखक श्री शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय ने ठीक ही कहा कि नारी की चरम सार्थकता मातृत्व में है। भगवान् जगन्माता हैं। हम उसके खेल समझ नहीं पाते। नारी ईश्वर स्वरूप देवी का अवतार होती है और वह परमेश्वर की ही इस भूमि पर प्रत्यक्ष तथा जीवंत प्रतिमूर्ति है। इसी लिये श्री रामकृष्ण परमहंस ने साधारण मनुष्यों के लिये यह मनोहर उपदेश दिया है कि “जिस किसी व्यक्ति से आप प्रेम करते हों, चाहे वह आपकी प्रेयसी पत्नी हो अथवा मित्र या माता-पिता, उसमें भगवान् का ही स्वरूप देखें। ईश्वरोपासना का यह बड़ा ही सहल उपाय है। इस उपाय से हम सभी का जीवन पुनीत हो सकता है।”

मैंने भी भगवान् का साक्षात् करने के लिये इसी साधन का आश्रय लिया है, क्योंकि मुझ से जप तप नहीं होता और मैं ज्ञानी हूँ न विद्वान्।

आज तक आप से खूब लाड-प्यार पाया है और आगे को भी पाने की पूर्ण आशा है, किन्तु अब अमृत पद प्राप्त करने में मुझ को तुम्हारी सहायता की आवश्यकता आन पड़ी है। इन भावनाओं से प्रेरित होकर मैं परमपूज्या माता कौशल्या का ध्यान करते हुए यह संकलन आपकी भेंट करता हूँ, क्योंकि मेरे दृष्टिकोण से आप दोनों की गणना अनन्त मातृशक्ति के आदर्श प्रतिनिधियों में होती है।

विनीत,

उमादत्त

## भूमिका

“रामायण” दो शब्दों के संयोग से बना है। “राम” और “अयन”। “अयन” को “अयन” तथा “आयन” भी लिखते हैं, किन्तु इन सब के अर्थ एक ही हैं—गति-चाल अर्थात् सूर्य अथवा चन्द्रमा की उत्तर व दक्षिण की गति या प्रवृत्ति जिसे उत्तरायण और दक्षिणायण कहते हैं। इस शब्द के दूसरे अर्थ ‘स्थान’ तथा ‘काल’ भी हैं जिसके अनुसार रामायण का अर्थ हुआ श्री रामचन्द्र की अयोध्या नगरी तथा रामचन्द्र के युग की गाथा। परन्तु यह गौण अर्थ है। मुख्य अर्थ है श्री रामचन्द्र की गति अर्थात् जीवन चरित्र (मार्ग)। जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा अपने उत्तरायण और दक्षिणायण मार्ग की यात्रा करते हुए अंश भर भी इधर उधर विचलित नहीं होते, उसी तरह जन्म से लेकर मरण पर्यन्त श्री रामचन्द्र जी धर्ममार्ग से कभी नहीं भटके, और वह सदैव श्रुति तथा नीति के पथ पर स्थिर रहे। दूसरा भाव “रामायण” शब्द से यह भी हो सकता है कि जो मनुष्य राम अर्थात् परमेश्वर का साक्षात् करना चाहता है, उसके लिए जो मार्ग है, उस का वर्णन इस ग्रन्थ में है। अतएव “अयन” का अर्थ “शास्त्र” भी यहां पर ठीक लागू होता है।

श्री वाल्मीकि का महाकाव्य संस्कृत में है और उस का नाम रामायण है। प्रायः लोग गोसाईं तुलसीदास जी के हिन्दी महाकाव्य को भी रामायण के नाम से पुकारते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। तुलसीदास जी ने इसका नाम ‘रामचरितमानस’ रखा था और यही इस का वास्तविक नाम है। गोसाईं जी श्री राम के अनन्य भक्त थे भक्तिरस में विभोर हो कर उन्होंने यह बृहद् ग्रन्थ लिखा और दोहों तथा चौपाइयों में उन्होंने केवल वही वर्णन किया जो अपने संकल्प

उपन्यास तथा गल्प लेखक श्री शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय ने ठीक ही कहा कि नारी की चरम सार्थकता मातृत्व में है। भगवान् जगन्माता हैं। हम उसके खेल समझ नहीं पाते। नारी ईश्वर स्वरूप देवी का अवतार होती है और वह परमेश्वर की ही इस भूमि पर प्रत्यक्ष तथा जीवंत प्रतिमूर्ति है। इसी लिये श्री रामकृष्ण परमहंस ने साधारण मनुष्यों के लिये यह मनोहर उपदेश दिया है कि “जिस किसी व्यक्ति से आप प्रेम करते हों, चाहे वह आपकी प्रेयसी पत्नी हो अथवा मित्र या माता-पिता, उसमें भगवान् का ही स्वरूप देखें। ईश्वरोपासना का यह बड़ा ही सहल उपाय है। इस उपाय से हम सभी का जीवन पुनीत हो सकता है।”

मैंने भी भगवान् का साक्षात् करने के लिये इसी साधन का आश्रय लिया है, क्योंकि मुझ से जप तप नहीं होता और मैं ज्ञानी हूँ न विद्वान्।

आज तक आप मे खूब लाड-प्यार पाया है और आगे को भी पाने की पूर्ण आशा है, किन्तु अब अमृत पद प्राप्त करने में मुझ को तुम्हारी सहायता की आवश्यकता आन पड़ी है। इन भावनाओं से प्रेरित होकर मैं परमपूज्या माता कौशल्या का ध्यान करते हुए यह संकलन आपकी भेंट करता हूँ, क्योंकि मेरे दृष्टिकोण से आप दोनों की गणना अनन्त मातृशक्ति के आदर्श प्रतिनिधियों में होती है।

विनीत,

उमादत्त

## भूमिका

“रामायण” दो शब्दों के संयोग से बना है। “राम” और “अयन”। “अयन” को “अयन” तथा “आयन” भी लिखते हैं, किन्तु इन सब के अर्थ एक ही हैं—गति-चाल अर्थात् सूर्य अथवा चन्द्रमा की उत्तर व दक्षिण की गति या प्रवृत्ति जिसे उत्तरायण और दक्षिणायण कहते हैं। इस शब्द के दूसरे अर्थ ‘स्थान’ तथा ‘काल’ भी हैं जिसके अनुसार रामायण का अर्थ हुआ श्री रामचन्द्र की अयोध्या नगरी तथा रामचन्द्र के युग की गाथा। परन्तु यह गौण अर्थ है। मुख्य अर्थ है श्री रामचन्द्र की गति अर्थात् जीवन चरित्र (मार्ग)। जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा अपने उत्तरायण और दक्षिणायण मार्ग की यात्रा करते हुए अंश भर भी इधर उधर विचलित नहीं होते, उसी तरह जन्म से लेकर मरण पर्यन्त श्री रामचन्द्र जी धर्ममार्ग से कभी नहीं भटके, और वह सदैव श्रुति तथा नीति के पथ पर स्थिर रहे। दूसरा भाव “रामायण” शब्द से यह भी हो सकता है कि जो मनुष्य राम अर्थात् परमेश्वर का साक्षात् करना चाहता है, उसके लिए जो मार्ग है, उस का वर्णन इस ग्रन्थ में है। अतएव “अयन” का अर्थ “शास्त्र” भी यहां पर ठीक लागू होता है।

श्री वाल्मीकि का महाकाव्य संस्कृत में है और उस का नाम रामायण है। प्रायः लोग गोसाईं तुलसीदास जी के हिन्दी महाकाव्य को भी रामायण के नाम से पुकारते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। तुलसीदास जी ने इसका नाम ‘रामचरितमानस’ रखा था और यही इस का वास्तविक नाम है। गोसाईं जी श्री राम के अनन्य भक्त थे भक्तिरस में विभोर हो कर उन्होंने यह बृहद् ग्रन्थ लिखा और दोहों तथा चौपाइयों में उन्होंने केवल वही वर्णन किया जो अपने संकल्प

से (मानस में) अर्थात् मन के नेत्रों से श्री राम की मूर्ति देखी और जैसा उनकी लीलाओं को पाया। भाव उनका यह है कि मैं नहीं जानता, श्री रामचन्द्र वास्तव में कैसे थे, उनकी जीवनी देखनी हो तो वाल्मीकि रामायण का अवलोकन करें, किन्तु मैं तो जिस रूप में उन्हें देखता हूँ, और पाता हूँ, वही मैंने लिखा है, इसी लिए इस काव्य का नाम राम-चरित-मानस रखा है।

कतिपय विद्वान् 'मानस' का अर्थ 'मानसरोवर' भी करते हैं जो सब से उत्तम सरोवर है और जहाँ संख्यातीत मोती हैं। 'रामचरित-मानस' में भी गणनातीत मोती (रत्न) हैं। पाठक हंस के रूप में हैं। पाठक मन-चाहे इस में से मोती ग्रहण कर सकते हैं। शायद इस धारणा तथा अभिमत का आधार रामायण की यह चौपाई है—“सेवक मन-मानस-मराल से पावत गंग-तरंग-माल से।” (बालका. ५१, ७.)

वाल्मीकि का समय ई. पू. २२८० अर्थात् आज (सं. १६५६) से ४२३६ वर्ष पहिले माना जाता है। उस समय के अन्य विख्यात महाकाव्यों के साथ तुलना करने से काल का यह परिमाण ठीक ही जांच पड़ता है क्योंकि यह अब प्रमाणित हो चुका है कि यूनान में और रोम में होमर और वर्जिल ने “इलियड” तथा “एनिड” की रचनाएं आज से लगभग ३१५० वर्ष पूर्व की हैं और उनकी कथा-वस्तु तथा शैली भारतवर्ष की रामायण से मिलती जुलती है। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन आर्यसभ्यता की एक धारा युरोप में और दूसरी धारा इस देश में अवश्य प्रवाहित हुई है।

आधुनिक युग के बहुत से विद्वानों और महानुभावों ने यह अभिमत प्रकट किया है कि रामायण में वर्णित घटनाएं ऐतिहासिक नहीं हैं। श्री रामचन्द्र नाम के कोई महापुरुष नहीं हुए। रामायण केवल एक सुन्दर महाकाव्य है और एक महान् कवि के मस्तिष्क की अद्वितीय उपज है। सं० १६०४ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के व्याख्याता श्रीयुत

दिनेशचन्द्रसेनप्रणीत “रामायणी कथा” नामक बंगाली पुस्तक की भूमिका में भारत के कवि-सम्राट् श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा कि “रामायण और महाभारत घटनाओं के इतिहास नहीं हैं क्योंकि घटनाओं के इतिहास समय विशेष का अवलम्बन करते हैं और रामायण और महाभारत भारतवर्ष के चिरकाल के इतिहास हैं। इतिहास तो समय २ पर बदलते रहते हैं, किन्तु इन इतिहासों का परिवर्तन नहीं होता। भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और संकल्प है उस का ही इतिहास इन दो महाकाव्य रूपी राजप्रासादों में चिरकाल रूपी सिंहासन पर विराजमान है।” इसी कथन का समर्थन इसके पक्षीस वर्ष पश्चात् पूज्य बापू महात्मा गान्धी ने अपनी “गीताबोध” पुस्तक की प्रस्तावना में इस प्रकार किया है कि “हमारे मत से महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि धर्मग्रन्थ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें, तो वह आत्मा का इतिहास है, और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ, यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देह में क्या जारी है, इसकी एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण देव और असुर के—राम और रावण के बीच नित्य चलने वाली लड़ाई का वर्णन है।”

हमारे हृदय में श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी दोनों के लिये असीम श्रद्धा और आदर है और हमें उनकी विद्वत्ता और प्रबल मनन शक्ति में अंशमात्र सन्देह नहीं, तो भी हमें खेद है कि हमें उनके इस विचार से कि रामायण में वर्णित घटनाएं ऐतिहासिक नहीं हैं सहमत होने में तीन कारणों से आपत्ति है। पहिला कारण यह है कि कल्पित कथाएं और गाथाएं संसार में बहुत बार लिखी जा चुकी हैं—केवल हमारे देश में नहीं, अन्य देशों के अन्दर भी लिखी गई हैं, परन्तु इन में से किसी भी कहानी के नायक (“हीरो Hero”) किसी देश अथवा जाति के “हीरो” नहीं बन सके। यूनान में होमर के महाकाव्य के प्रधान पात्रों अलीसस तथा ट्राय की हैलेन के नामों

की बहुत अधिक प्रतिष्ठा है, परन्तु उनकी पूजा वहाँ इस प्रकार नहीं होती जैसी भारतवर्ष में श्री राम तथा सीता की घर २ में होती है। प्रश्न यह है कि यह “वीर पूजा” (Hero Worship) केवल हमारे देश में ही क्यों प्रारम्भ हुई। यदि यह कहा जाए कि पूजा करना भारत-वासियों का एक स्वभाव ही बन गया है तो यह भी ठीक नहीं रुचता, क्योंकि इस देश में और भी तो कई कथाएं लिखी गई हैं—इतने सुन्दर और श्रेष्ठतम उपन्यास, ग्रन्थ और गाथाएं। उनके जो नायक थे, उनकी पूजा हमारे देश में श्री राम और सीता की भान्ति क्यों नहीं होती? दूसरा कारण यह है कि यदि यह भी मान लिया जाए कि रामायण केवल एक महान् कवि अथवा कथाकार की अनुपम कल्पना शक्ति का चमत्कार है तो क्या यह भी हो सकता है कि इस महान् कवि या कथाकार ने स्वयं ही कन्या कुमारी से लेकर हिमालय पर्वत तक अपने पात्रों और नायकों के स्मारक बनाए हों; क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति को क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वह यह स्मारक बनाता फिरे, और आज तक यह किसी ने नहीं कहा कि इन स्मारकों के निर्माता वाल्मीकि जी थे। यह अयोध्या है, जहां श्री रामचन्द्र जी का जन्म हुआ था। यह चित्रकूट है जहां पर भरतजी श्री राम को बन से लौटाने के हेतु गए थे। यह नासिक है जहां पर उन्होंने अपने वनवास के वर्ष बिताए थे। यह रामेश्वरम् है जहाँ पर उन्होंने भगवान् की पूजा की थी। यह लाहौर है जिसे श्री राम के पुत्र लव ने बसाया था। ये और ऐसे सहस्रों अन्य स्थान भी क्या उस कवि या कथाकार ने निर्माण किये थे? रामायण का पाठ तो जावा सुमात्रा, बाली, हिन्द चीनी और स्याम में भी हुआ किन्तु वहां किसी ने श्रीरामचन्द्र का कोई स्मारक बना कर क्यों नहीं खड़ा किया? इस का उत्तर यही है कि श्रीराम इन देशों में कभी गए ही नहीं। जन्म से लेकर अन्त तक वह भारतवर्ष में ही रहे। केवल एक बार वह लंका गए और उसको पराजय करके लौट आए। तीसरा और अन्तिम

कारण दोनों से और भी महत्वपूर्ण और गुरुता का है। पुरातत्व के नये शोध की साहसिक कथाओं में जितनी ख्याति आज श्री सी. डब्ल्यू केरां की लिखित “ग्रेन्ज़ एंड सकालर्स” को मिली, उतनी किसी और पुस्तक को इस शताब्दी में प्राप्त नहीं हुई। इस में जर्मनी के एक साधारण पादरी के पुत्र हेनरिक शिलमेन की जीवनी दी गई है। होमर द्वारा लिखित महापुराण ओडेसी और इलियड के पात्र शिलमेन के समय तक केवल कवि-कल्पना माने जाते थे। किन्तु हेनरिक शिलमेन को पूर्ण विश्वास था कि होमर की पंक्ति-पंक्ति यथार्थ है। अतएव वह युनान गए और उन्होंने सं. १८७० में खंडहरों की खुदाई का कार्य आरम्भ कर दिया। चौदह वर्ष वह बराबर इस काम को १०० मजदूरों द्वारा दिन-रात फावड़ों और कुदालियों से करवाते रहे। इस निरन्तर परिश्रम के परिणाम स्वरूप उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने ७६८ फीट ऊँचा एक टीला खोज निकाला जो द्राय के महासमर का स्थान था। उन्हें हेलेन का रूप-महल एवं होमर का अजय दुर्ग मिला, बहुत से शस्त्रास्त्र, गृहस्थी के बर्तन, असली सोने के बने कई आभूषण मिले और राज्य मुद्राएं मिलीं। उन्होंने द्राय-युद्ध के महावीर सेनापति एगमेमनन और उस के साथियों की समाधियां भी ढूँढ निकालीं। इस प्रकार हेनरिक शिलमेन ने सिद्ध कर दिया कि होमर की रचनाओं के पात्र केवल लेखक के मस्तिष्क की उपज नहीं हैं, वह वास्तव में कभी हुए थे। इस अनुसन्धान का व्योरा पढ़कर हमारा यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है कि हो सकता है भविष्य में कोई साहसी और सच्ची लगन वाला व्यक्ति इस देश में पुरातत्व का शोध करते हुए यह एक दिन प्रमाणित कर दे कि भारतवर्ष में आज से चार पांच हजार वर्ष पूर्व राम, सीता, रावण, हनुमान् आदि रामायण के पात्र अवश्य उत्पन्न हुए थे और रामायण में वर्णित घटनाएं सत्य हैं।

निस्संदेह श्री रामचन्द्र किसी कल्पित कहानी के नायक (Hero) नहीं थे। रामायण की कथा ने उन्हें जन्म नहीं दिया, वरन् उन्होंने

इस कथा को जन्म दिया। वह भारतवर्ष के पूज्य महापुरुष थे। उन्हें यदि महापुरुष मान कर देश ने उनकी पूजा की, उन का जन्म दिन मनाया, उनका विजय दिन मनाया और उनके जीवन को अपने जीवन का आदर्श बना लिया है तो केवल इस लिए कि वह उस महान् भारतीय संस्कृति का जीता जागता रूप हैं जिस पर भारतवासियों ने सदा अभिमान और गर्व किया है।

‘रामायण’ भक्ति, नीति काव्य ही नहीं, प्रेम-काव्य भी है। उदाहरणार्थ राजा दशरथ के संतापों का मूल कारण कैकेयी के प्रति उनकी प्रेमासक्ति ही तो है। बालकाण्ड में भी थोड़ा सा वर्णन है किन्तु अयोध्याकाण्ड में तो राम और सीता का प्रेम ही मुख्य रूप से वर्णित है।

जो तत्त्वज्ञ ‘रामायण’ को आध्यात्मिक रूपक मानते हैं, उनके अनुसार सीता जीव है और राम ब्रह्म। इस रूपक के अनुसार ब्रह्म भटके जीव को खोजता है और यह ऐसी प्रीतिजन्य खोज है कि इसमें कहीं विराम नहीं, कहीं तृप्ति नहीं। जीव एवं ब्रह्म परस्पर अंशाशीभाव में अविच्छिन्न हैं। यह अविच्छिन्नता भंग हो जाती है, तो जीव की भान्ति ब्रह्म को फिर से ऐक्य-स्थापन की चिन्ता होती है। वास्तव में निःसीम करुणा ही तो परमेश्वर (राम) के हृदय में विराजमान महामहिम जगज्जननी (सीता) है। अर्थात् परम पिता परमात्मा (ब्रह्म-राम) और उसके बनाए हुए प्राकृतिक नियम (उसकी पराशक्ति-सीता) एक दूसरे से पृथक् नहीं। यह सभी उसी एक सच्चिदानन्द रूपिणी महामाया कल्याणी की ही विविध व्यंजनाएं हैं। उन्हें पृथक् करने की भूल करने पर हमारी भी वही दुर्दशा होगी जो रावण की हुई थी। अज्ञानवशात् उस ने ब्रह्म-प्रतीक राम को पराशक्ति-प्रतीक सीता से चिलग करने की दुर्मति की थी।

गङ्गा भारत की प्रमुख महानदी है। गंगोत्री से लेकर समुद्र तट तक इसके जल में कहीं भी स्नान करने से शरीर को शुद्धताई और मन

को अध्यात्म-तृप्ति सी प्राप्त होती है किन्तु हरिद्वार में इस की नील धारा से नहर काट कर जो जल “हर की पौड़ी” पर पहुँचता है उस में स्नान करने का विशेष माहात्म्य और पुण्य फल माना जाता है। इसी प्रकार रामायण एक बृहद् ग्रन्थ है जो आदि में अन्त तक अपने भक्ति रस से मनुष्य की सब कर्मेन्द्रियों को निर्मलता और उस के मन को धर्म का सुन्दर सन्देश सुनाकर परम शान्ति और सुख प्रदान करता है, तो भी इस के अन्तर्गत बहुत से ऐसे प्रकरण तथा स्थल हैं जो साहित्यिक दृष्टि से बहुत उच्च, मार्मिक, रुचिकर और शिवाप्रद हैं। इस संकलन में कुछ ऐसे ही प्रसंगों को संग्रह करने का प्रयास किया गया है और इसी लिए हम ने इसका नाम “मानस गङ्गा” रक्खा है। पाठकों के सुभीते के लिए कठिन २ शब्दों के अर्थ भी साथ २ दे दिए गए हैं। चौपाइयों तथा दोहों के अन्त में जो पते दिए गए हैं—वह गीता प्रैस गोरखपुर की छपी हुई पुस्तक से लिए गए हैं।



## प्रकाशकीय

गोस्वामी तुलसीदास जी की अमरकृति 'रामचरितमानस' हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान रखती है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के उदात्त-चरित्र का विस्तार इस ग्रन्थ से बहुत अधिक हुआ है। घर-घर में 'राम चरितमानस' का पाठ होता है। इस सबका श्रेय गोस्वामी तुलसीदास जी को है।

श्रद्धेय, योग्य लेखक श्री पं० उमादत्त जी ने 'रामचरितमानस' से सुन्दर-सुन्दर प्रकरणों को इस 'मानस गङ्गा' में संगृहीत करके पुष्पवाटिका की भाँति इसे सजा दिया है। कहीं आपको करुणरस मिलेगा तो कहीं वीर रस की छटा दीखेगी; कहीं नारी धर्म दीखेगा तो कहीं विविध प्रकार की भक्ति के दिव्य दर्शन होंगे; सुन्दर अश्लीलता से रहित पवित्र प्रेम के कहीं दर्शन हैं, तो कहीं भ्रातृ-भाव का समुज्ज्वलप्रेम पूर्णरूपेण विकसित है।

इस संग्रह को प्रकाशित करते हुए संस्थान का प्रकाशन विभाग श्री पण्डित उमादत्त जी का अति अनुगृहीत है। इतना और भी निवेदन करना आवश्यक है कि पुस्तक में वर्णित विचारों का पूर्णरूपेण उत्तर-दायित्व लेखक पर ही है।

प्रकाशन विभाग—  
साधु-आश्रम, होशियारपुर। }

देवदत्त शास्त्री



## विषय-सूची

| सं० | विषय                       | पृष्ठ |
|-----|----------------------------|-------|
| १.  | वन्दना                     | १     |
| २.  | राम-अवतार                  | ११    |
| ३.  | पूर्वानुराग—श्री राम का    | १६    |
| ४.  | पूर्वानुराग—जानकी जी का    | २७    |
| ५.  | पवित्र प्रेमधारा           | ३५    |
| ६.  | परशुराम                    | ४३    |
| ७.  | सौत का दंश                 | ५४    |
| ८.  | सौत को प्रत्युत्तर         | ६६    |
| ९.  | भारत रमणी                  | ७१    |
| १०. | केवट की मजूरी              | ७६    |
| ११. | अन्तिम रात्रि              | ८१    |
| १२. | मां का हृदय                | ९०    |
| १३. | शोकातुर भरत                | ९७    |
| १४. | मर्यादा पुरुषोत्तम राम     | १०३   |
| १५. | नारीधर्म                   | ११४   |
| १६. | शूर्पणखा                   | ११८   |
| १७. | शबरी और भक्ति के नौ स्वरूप | १२३   |
| १८. | हनुमान्-परिचय              | १३०   |
| १९. | बाली-बध                    | १३६   |
| २०. | सीता सन्देश                | १४२   |
| २१. | विजय का रथ                 | १४६   |
| २२. | रावण का संहार              | १४९   |



## १. वन्दना

[ यह सत्य कहा गया है कि मनुष्य की “गुरु बिना गति नहीं”, क्योंकि जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् (१,८,१) में लिखा है, “यदा वै बली भवति । अथ उत्थाता भवति । उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति । परिचरन् उपसत्ता भवति । उपसीदन् द्रष्टा भवति । श्रोता भवति । मन्ता भवति । बोद्धा भवति । कर्ता भवति । विज्ञाता भवति ।”— “अर्थात् जब मनुष्य बलवान् होता है तब वह उठ कर खड़ा होता है । उठ खड़ा होने के पश्चात् गुरु की सेवा करता है फिर वह गुरु के पास बैठने का अधिकारी होता है, गुरु का जीवन ध्यान से देखता है, उनका व्याख्यान सुनता है, उस व्याख्यान का मनन करता है, उसे समझ लेता है, उसके अनुसार काम करता है और अन्त में विज्ञान अर्थात् अपरोक्ष अनुभूति का लाभ प्राप्त करता है ।” इसलिये गुरु को बारम्बार नमस्कार करना चाहिये । हमारा सब से श्रेष्ठ गुरु परमेश्वर है जिनकी विभूतियों को ही श्री गणेश, विष्णु और शिव आदि देवताओं के स्वरूप में इस जगत् में प्रसृत देखते हैं । वही महती शक्ति प्रत्येक वस्तु के भीतर विराजमान है । अतएव हमें इन सब को अपना गुरु मान कर शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये और किसी से भी घृणा नहीं करनी चाहिये । सज्जन और दुर्जन को समदृष्टि से देखना चाहिये । किन्तु यह भाव सत्-संग के बिना उदय और प्राप्त नहीं होता । जब तक परमात्मा की असीम कृपा न हो, मनुष्य को सत्संग सुलभ नहीं होता । इस असीम कृपा को पाने का केवल एक ही उपाय है—प्रभु के नाम का निरन्तर स्मरण । इससे मनुष्य में बल का संचार होगा और तब वह गुरु के सम्पर्क में आकर उसी के अनुकूल अपना जीवन बनाते हुए मोक्ष-पद को प्राप्त करेगा । ]

जेहि सुमिरत सिद्धि होई गण नायक करि-वर-वदन ।

करऊ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुण सदन ॥१॥

जिनके स्मरण करने से मनुष्य सिद्धि पाता है । जो सब देवताओं के नायक है और जिन का मुख हाथी के समान है और जो बुद्धि का खज़ाना है वह (श्री गणेश जी) मुझ पर सदैव अपनी कृपा बनाए रखें ।

टीका :—पौराणिक काल में लोगों ने श्री गणेश की मूर्ति बनाते समय उनके मुख पर हाथी की सूण्ड जड़ दी । वास्तव में श्रीगणेश की जैसा कि जन्तुओं में हाथी सब से बलवान् होता है वैसे ही वे देवताओं में सब से अधिक बलवान् थे ।

मूक होइ वाचाल पंगु चढ़ई गिरिवर गहन ।

जासु २ पा सो दयाल द्रवऊ सकल कलि-मल दहन ॥२॥

जिनकी कृपा से गूंगे बोलने लगते हैं और लंगड़े दुर्गम महा पर्वतों पर चढ़ जाते हैं और जो कलियुग के सब दोषों और मेल का नाश करने वाले हैं वह मुझ पर दयालु रहें ।

टीका :—ईश्वर के सम्मुख शिक्षित-अशिक्षित का भेद-भाव नहीं होता—भक्ति के आश्रय से मानो गूंगे भी बोल पड़ते हैं अन्ये भी देखने लगते हैं । उनके ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं ।

नील सरोरुह श्याम तरुन अरुन वारिज नयन ।

करऊ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन ॥३॥

जिनका शरीर नीले कमल के समान श्याम वर्ण (सुन्दर) है, जिनके नयन नये खिले हुए कमल के समान लाल हैं जो सदैव क्षीर—दूध के समुद्र में शयन करते (सोते) हैं वह विष्णु भगवान् मेरे हृदय में वास करें ।

टीका :—यह विष्णु भगवान् की स्तुति है ।

कुन्द इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन ।

जाही दीन पर नेह करऊ कृपा मर्दन मयन ॥४॥

जिनकी देह कुन्द के फूल और शरत् ऋतु के चाँद के समान है । जो अपनी स्त्री रमा के साथ सर्व स्थानों में घूमते रहते हैं, दया ममता के सागर (अयन) हैं जिनका दीनों पर सदा स्नेह बना रहता है और जिन्होंने श्री कामदेव (मयन) को कुचल कर (मर्दन) भस्म कर डाला—वह मुझ पर कृपा दृष्टि रखे ।

टीका :—यह शिवजी की स्तुति है ।

बन्दऊ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि ।

महा मोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ॥५॥

मैं उन गुरुओं के चरण कमलों के समूह (कंज) को नमस्कार करता हूँ जो कृपा के सागर हैं, जो मनुष्य का शरीर (रूप) धारण करके मानों जैसे भगवान् विष्णु या नृसिंह जी हों अर्थात् ऐसे महात्मा जो मनुष्य का जन्म पाकर अपना सारा जीवन दूसरों का उपकार करने में व्यतीत करते हैं और जिनके वचन सूर्य की किरणों के समूह के समान महामोह अर्थात् अज्ञान के अन्धकार के समूह (पुंज) का नाश करने वाले होते हैं ।

बन्दऊं प्रथम मही-सुर चरना । मोह जनित संसय सब हरना ॥

१,२.

मैं सबसे प्रथम ब्राह्मणों के चरणों में नमस्कार करता हूँ जिनके पुण्य प्रताप से अज्ञान (मोह) से उत्पन्न सब शकार्थ नष्ट हो जाती है ।

साधु चरित सुभ सरिस कपासु । निरस विसद गुनमय फल जासु ॥

जो सहि दुःख परिछिद्र दुरावा । बन्दनीय जेहि जग जसु पावा ॥

१,३.

सज्जन पुरुषों का शुभ चरित्र कपास के समान सुन्दर (सरिस) होता

है, जिसका फल जगत के विषय भोगों से रहित होने के कारण नीरस होते हुए भी उज्ज्वल तथा निर्मल (विसद=विशुद्ध=अति पवित्र) और गुणों से भरपूर होता है। जिस प्रकार कपास रुई के तन्तु शरीर के वस्त्रों का रूप धारण करते हुए स्वयं दुःख सह कर मनुष्य का कल्याण करते हैं, इसी तरह सन्त लोग स्वयं दुःख सहकर भी दूसरों के दोषों को ढकते हैं और इसीलिये उन्होंने जगत् में पूजा करने के योग्य यश को पाया है।

मुद् मंगल मय सन्त समाजू । जो जग जंगम तीरथ राजू ॥  
राम भक्ति जहं सुरसरि धारा । सरसइ ब्रह्म-विचार प्रचारा ॥

१,४.

सन्त समाज आनन्द के देने वाला और कल्याण के करने वाला होता है जो जगत में चलता फिरता सब से बड़ा तीर्थराज (प्रयाग) है। इस (तीर्थ) में राम भक्ति गंगा की धारा है और ब्रह्म-विद्या का प्रचार सरस्वती नदी है।

विधि-निषेध-मय कलि मल हरनी । करम कथा रविनन्दनि बरनी ॥  
हरि हर कथा विराजित बेनी । सुनत सकल मुद् मंगल देनी ॥

१,५.

यहाँ पर कर्तव्य तथा अकर्तव्य (विधि-निषेध) का उपदेश देने वाली कलियुग के सब मल (दोषों) को नष्ट करने वाली और वर्णन करने के योग्य (बरनी) जो करम कथा होती है वही जमुना नदी (रविनन्दनी) है।

इसमें हरि तथा हर की कथा त्रिवेणी का संगम है जिसके केवल सुनने से ही सब को अपार आनन्द और कल्याण प्राप्त होता है।

बटु विस्वासु अचल निज धर्म्मा । तीरथ राज समाज सुकर्मा ॥  
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ॥

१,६.

अपने धर्म में अचल विश्वास ही यहाँ का “अक्षय-वट” है और

शुभ कर्म ही इस बड़े तीर्थ का मेला (समाज) है। यह तीर्थराज प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक देश, स्थान और समय में मिल सकता है और यदि इसका वह प्रेम व श्रद्धा से उपयोग करे तो उसके सब क्लेश दूर हो जाते हैं।

अकथ अलौकिक तीर्थराज । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥

१,७.

इस तीर्थराज की प्रशंसा कही नहीं जा सकती। इसकी दिव्य शोभा है। इसका महान् प्रभाव केवल इतने से ही प्रगट है कि वह तुरत फल देता है।

सुनि समुझहिं जब मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग ।

लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज-प्रयाग ॥२॥

जो मनुष्य प्रसन्न-चित्त से इस सन्त समाज रूपी महातीर्थ के उपदेशों को सुनकर समझते हैं और बड़े प्रेम तथा भक्ति के साथ उनमें स्नान करते (गोते लगाते) हैं अर्थात् उनको ग्रहण करके उनके अनुसार अपना जीवन बनाते हैं वह इसी शरीर अर्थात् जन्म में चारों फल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्पूर्ण (अछत=अलत=बिना टूटा या कटा) रूप से प्राप्त कर लेते हैं।

मज्जन फल पेखिये तत काला । काक होहिं पिक बकऊ मराला ॥

२,१.

इस तीर्थराज में स्नान करने का फल तत्काल देखिये कि कौआ (अज्ञानी मनुष्य) तो कोयल (ज्ञानवान्) और बगला (नीच, दुष्ट) हंस (उच्च, साधु) बन जाता है।

बिनु सतसंग विवेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

२,४.

सत्संग के बिना मनुष्य के मन के अन्दर उजाला नहीं होता किन्तु जिस पर भगवान की असीम कृपा न हो उसे सत्संग आसानी से नहीं मिलता ।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परमि कुधातु सोहाई ।  
विधि बस सुजन कुसंगति परहि । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥

२,५.

सत्संग मिल जाने पर पाखंडी भी सुधर जाता है जैसे पारस के छू जाने से लोहा (कुधातु) मोना बन जाता है ।

और यदि कभी भाग्य के हेम-फेर से सज्जन लुगी संगत में पड़ जाए तो भी वह अपने गुणों का ही अनुसरण करता है अर्थात् अपना आन्तरिक-व्यवहार सर्वथा शुद्ध पवित्र रखता है जैसे सर्प के विष की घैली उसके सिर में मणि के बिल्कुल निकट होती है तो भी उससे मणि कभी दूषित नहीं होती ।

बन्दउं सन्त समान चित हित अनहित नहीं कोउ ।

अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्धकर दोउ । ३॥

मैं सन्तों को नमस्कार करता हूँ जो मित्र शत्रु सब को एक समान समदृष्टि से देखते हैं जैसे अंजलि में रखे हुए फूल दोनों हाथों—दाहिने और बाएँ को बराबर सुगन्धित करते हैं ।

बन्दउ सन्त असज्जन चरना । दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥  
बिछुरत एक प्राण हर लेहीं । मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥

४,२.

मैं सज्जन और असज्जन दोनों को ही प्रणाम करता हूँ । इन दोनों से ही हमें दुःख तो अवश्य मिलता है किन्तु दोनों के दुःख कुछ

अलग-अलग प्रकार के कहे गए हैं। सञ्जन से पृथक् होते समय मानो जान पर आ बनती है और दुर्जन से मिल कर महाकष्ट होता है।

उपजहिं एक संग जग माहीं । जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥  
सुधा सुरा सम साधु असाधु । जनक एक जग जलधि अगाधू ॥

४,३.

इस संसार में जल से कमल और जोंक एक साथ पैदा होते हैं किन्तु दोनों के अपने गुण अलग-अलग होते हैं। साधु अमृत (सुधा) और दुष्ट मदिग (सुरा) के समान होते हैं, जब कि दोनों का जन्मदाता (जनक) अति गहरा समुद्र एक ही है।

गगन चढ़ई रज पवन-प्रसंगा । कीचहिं मिलइ नीच जल संग्गा ॥  
साधु असाधु सदन सुक सारी । सुमरहिं रामु, देहिं गनि गारी ॥

६,१.

धूल पवन के साथ संग करके आकाश पर चढ़ती है, किन्तु नीच जल के साथ मिल कर कीचड़ बन जाती है।

साधु जनों के घों (सदन) में पले हुए तोता (सुक) और मेना (सारी) गम नाम जपते हैं, और असाधुजनों के तोते मैना गिन-गिन कर गालियाँ देते हैं।

जड़ चेतन जग जीव जन सकल राममय जानि ।

बन्दउ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥॥॥

संसार में जितने जड़ और चेतन प्राणी हैं। उन सब को भगवान् (राम) का स्वरूप ही जान कर मैं उन सब के चरण कमलों में हाथ जोड़ कर नमस्कार करता हूँ।

टीका :—यदि मनुष्य की ऐसी बुद्धि हो जावे तो वह कभी पाप नहीं करेगा। ऐसा पुरुष सब से प्रेम करता हुआ अपने शुभ आचरण के कारण इस जगत् में रहता हुआ ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

जग बहुनर सर-सरि सम भाई । जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ॥  
सज्जन सुकृत-सिंधु-सम कोई । देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ॥

७, ११.

संसार में तालाब (सर) और नदी (सरि) के समान मनुष्य तो बहुत हैं जो जल पा कर अपनी बाढ़ से बढ़ते हैं अर्थात् अपनी बढ़ती देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं—( किन्तु ) ऐसा शुभ कर्म करने वाला सज्जन कोई विरला ही होता है जो दूसरों की बढ़ती देख कर वैसे ही प्रसन्न होता है जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा (पूर बिधु) को देख कर समुद्र उछलने लगता है । अर्थात् उसमें ज्वार (बाढ़) आता है ।

टीका :—सत्संग में बैठने से मनुष्य कितनी ही विद्या और कितना ही ज्ञान क्यों न प्राप्त करले और उसका आचरण कितना ही ऊँचा क्यों न हो जावे तो भी राम नाम का प्रेम और श्रद्धा से भजन किये बिना वह अधूरा ही होगा ।

भनिति विचित्र सु-कवि-कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥  
बिधु बढनी सब भान्ति संवारी । सोह न बसन बिना बरनारी ॥

६, २

चाहे कितने ही महान् कवि की अनोखी कविता क्यों न हो—परन्तु राम नाम के बिना वह शोभा नहीं देती—अर्थात् ऐसा सब साहित्य अच्छा नहीं मानना चाहिये ।

जैसे चन्द्रमा के समान मुखवाली सुन्दर नारी सब प्रकार के पूर्ण शृंगार कर ले, तो भी यदि उसने अपने शरीर पर वस्त्र धारण न किये हों तो वह अच्छी नहीं लगती ।

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द परधामा ॥  
व्यापक विश्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥

१२, २.

[यह राम नाम क्या है तथा “राम” कौन हैं ? इस की व्याख्या सुनिये]:—

“परमेश्वर” एक है । उसकी कोई कामना नहीं — वह सतत निरन्तर है उसका न कोई रूप है न नाम, वह अजन्मा है, सच्चिदानन्द है और परमधाम है । वह सारे संसार में व्यापक है—सारा संसार उसमें स्थित है, (विश्वरूप) वही राम ( भगवान् ) मनुष्य का शरीर धारण करके नाना प्रकार के खेल दिग्वाता है ।

टीका :—परम सन्त कबीरदास ने क्या ही सुन्दर कहा है—

एक राम दशरथ घर डोले । एक राम घट-घट में बोलें ॥

एक राम का सकल पसारा । एक राम इन सब ते न्यारा ॥

अर्थ :—एक राम दशरथ के बेटे थे जिनके प्रताप से भारत का इतिहास जगमगा रहा है—एक राम मन है जो घट-घट में बोल रहा है जिसके चलाये हम चलते हैं जिसके बुलाये हम बोलते हैं—एक राम त्रिगुणामिक मायावी सृष्टि को चलाने वाली शक्ति है । और एक राम वह है जो इन सब से न्यारा है अर्थात् निराकार परब्रह्म परमेश्वर जो अलिप्त अकर्ता अलख, अगम और नामरहित है परन्तु नाम रूप होकर कण-कण में समा रहा है—वही रमी हुई शक्ति सन्तों के “राम” की शक्ति है और वही सन्तों के “राम” हैं ।

वन्दऊं राम नाम रघुवर को । हेतु कृसानु भानु हिम कर को ॥

१८, १.

मैं श्री रामचन्द्र जी के केवल “राम” नाम को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि रामचन्द्र जी तो मनुष्य हैं और “राम” भगवान् हैं और क्योंकि राम शब्द ही अग्नि (कृसानु) सूर्य (भानु) और चन्द्रमा (हिमकर) को बनाने वाला ( हेतु ) है अर्थात् र+आ+म=राम जो अग्नि ( र )

सूर्य ( आ ) और चन्द्रमा ( म ) का बीज है । संसार में सकल वनस्पति की उत्पत्ति अग्नि सूर्य और चन्द्रमा के प्रताप से ही होती है ।

एक छत्र एक मुकुट मनि सब वरननि पर जोड ।

तुलसी रघुवर नाम के वरन विराजत दोऊ ॥२०॥

रामचन्द्र जी के नाम “राम” के दोनों अक्षरों में से एक अर्थात् “र” छत्र के समान और दूसरा “म” मुकुट-मणि के समान सब अक्षरों पर विराजता है ।

टीका :—हिन्दी की सारी वर्णमाला में केवल ‘र’ और ‘म्’ अक्षर ही अन्य सर्व अक्षरों के ऊपर आवश्यकतानुसार लिखे जाते हैं—और किसी अक्षर में यह गुण नहीं ।

सार यह है कि “राम” नाम का स्मरण सब से उत्तम है । दूसरों के अज्ञान को दूर करने के लिये धर्म ग्रन्थों के पाठ और उपदेशों की आवश्यकता होती है, किन्तु मनुष्य के लिये अपने मन के अन्धकार को मिटाने के वास्ते केवल इस छोटे से भक्ति मन्त्र (राम) का भजन ही पर्याप्त है ।

---

## २. राम अवतार

[ श्री वाल्मीकि ने आदि काण्ड के प्रथम सर्ग में अपने महाकाव्य के नायक का निर्देश करके जब उनके गुणों का उल्लेख करते हुये नारदजी से पूछा कि किस एक मात्र नर में लक्ष्मी ने अपना समग्ररूप धारण किया है ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि:—

देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदभिर्गुणैर्युतम् ।

श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमाः ॥

(बालकाण्ड, ११)

अर्थात् “इन (उपर्युक्त) सब गुणों से युक्त व्यक्ति को तो हम देवताओं में भी नहीं देखते, पर जिस नररूपी चन्द्रमा में ये सब गुण विद्यमान हैं, उसकी कथा सुनो ।” इससे प्रमाणित है कि वाल्मीकि जी ने श्री रामचन्द्र को साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नहीं माना । गोस्वामी तुलसीदास जी का भी यही मत रामचरितमानस के पाठ से प्रकट होता है । इस विषय पर जो उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया है । उसी को गोस्वामी जी शिव जी और पार्वती के संवादरूप में वर्णन करते हैं कि परमात्मा के वास्तव में निराकार तथा साकार स्वरूप एक ही हैं, भिन्न नहीं ।

“हम सब को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है, फिर भी हम उसे देख नहीं पाते और न उसे समझ पाते हैं । यह सच है कि मैं और तुम—हममें से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति मैं भी परमेश्वर विद्यमान है, प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसकी सत्ता सर्वव्यापी है, किन्तु हमें उसे देखने के लिये दीप-शिखा की आवश्यकता होती है । जगत् का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता, जब तक यह

महान् शक्तिशाली दीपक, यह मर्यादा पुरुषोत्तम, भक्तजन उसके सन्देश-वाहक हो कर उस नारायण को अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करते। यद् ही व्यक्ति संसार के महान् विचारक व मनीषी होते हैं। यह ही दुनिया में पैगम्बर, ऋषि तथा ईश्वर के अवतार कहलाते हैं। मानवता के यह महान् प्रतिनिधि पृथ्वी पर अवतीर्ण जीवन्त ईश्वर-स्वरूप हैं।”

(सं. १६०१ में स्वामी विवेकानन्द के अमरीका में दिये गये दो भाषणों से संकलित)

श्री रामचन्द्र भी इसी प्रकार के एक महापुरुष थे। उन्होंने ईश्वर की उपलब्धि कर अपने महान् जीवन का जो उच्चतम आदर्श और दृष्टान्त हमारे सम्मुख रक्खा है, उसके प्रति भारतवासियों की श्रद्धा, शताब्दियों पर शताब्दियों बीत जाने पर, भी लेशमात्र कम नहीं हुई है और इसी लिये उनको “मर्यादापुरुषोत्तम” की उपाधि ठीक ही मिली है।]

पार्वती जी प्ररन करती हैं कि :—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंगअराती ॥  
रामु सो अवध नृपाति-सुत सोई । की अज अगुन अलख गति कोई ॥  
१०७, ४.

हे काम देव के शत्रु ! (अर्थात् कामदेव को मारने वाले= अनंगअराती) (मैं देखती हूँ कि) आप रात दिन बराबर बड़ी श्रद्धा और प्रेम के साथ राम-राम जपते रहते हो। क्या यह वह राम हैं जो अवध के राजा के पुत्र हैं या कोई और अजन्मा और निर्गुण हैं जिनकी गति दिखाई नहीं देती (अलख=अलक्ष्य=अदृश्य)।

जो नृपतनय तो ब्रह्मकिमि नारि बिरह मति मोरि ।

देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि ॥

जो यह राजा के पुत्र (तनय) हैं तो ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापी प्रभु कैसे

हो सकते हैं, क्योंकि अपनी स्त्री के विरह में वह पागल (बुद्धिभ्रष्ट) हो गए थे । (एक ओर) उनके कार्यों को देख कर और (दूसरी ओर) उनकी इतनी अधिक महिमा को सुन कर मेरी बुद्धि मचमुच बहुत भ्रम में पड़ गई है ।

तब महादेव जी बड़े प्रेम से समझाने लगे :—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कहु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥

११५, १.

मुनि, पुरान, पण्डित और वेद सभी यह बारम्बार कहते हैं कि साकार और निराकार (जगदाश्वर) में कोई भेद नहीं ।

टीका :—गीता में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं :—

मयावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासत ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (गी. १२, २)

अर्थ :—मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुये जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मुझ सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं । उनको मैं योगियों में भी अति उत्तम योगी मानता हूँ । (संसार की प्रत्येक वस्तु व प्राणिमात्र को परमेश्वर का रूप समझ कर प्रत्येक से प्रेम करना और सब में परमात्मा को ही देखना व समझना ईश्वर की सगुण उपासना है) ।

ये त्वत्त्वरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते

सर्वत्रगमच्चिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

मनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (गी. १२, ३, ४)

अर्थ :—और जो पुरुष इन्द्रिय गण को अच्छी प्रकार बश में करके मन बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एक रम रहने वाले नित्य अचल, निराकार, अविनाशी ब्रह्म की निरन्तर

एकीभाव से उपासना करते हैं। वे सब प्राणिमात्र के उपकार करने में मग्न और समर्पित वाले योगी भी मुझे प्राप्त होते हैं।

अगुणं अरूप अलख अज जोही। भगत-प्रेम बस सुगन सो होई।

११५,१.

वही (ब्रह्मा) जो निराकार स्वरहित अदृश्य और अजन्मा है, भगत के प्रेम के वशीभूत होकर साकार रूप में प्रगट हो जाता है।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु-हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥  
जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा ॥

११५,२.

(जो तुम्हें यह सन्देह है कि) जो निराकार है वह भला साकार कैसे हो सकता है, तो (इसका समाधान यह है कि) यह विल्कुल वैसे ही है जैसे जल से ओला (हिम-उपल) अलग नहीं। जिसका नाम भ्रम रूपी अन्धकार (तिमिर) के लिए सूर्य (पतंगा) है उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि उसको कभी मोह हुआ है।

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहं मांह निसा-लव-लेसा ॥

११५,३.

राम सच्चिदानन्द सूर्य (दिनेस) हैं—अतएव वहां पर मोह रूपी रात्री (निसा) का नाम व निशान भी नहीं हो सकता। (लवलेश= रत्ती भर भी)

हर्ष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥

११५,४.

हर्ष-शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहंकार-अभिमान यह प्रवृत्तिया (धर्म) मनुष्य (जीव) की होती है, परमेश्वर की नहीं।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्राणी ॥

११६,१.

बुद्धि भ्रम में पड़ जाने के कारण अज्ञानी अपनी भूल को तो समझते नहीं—एल्टा यह मूर्ख जीव ईश्वर को मोह हो जाने का आरोप लगाते हैं ।

जगत प्रकाश्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू ॥  
जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

११६.४.

भगवान राम (परमब्रह्म परमात्मा) प्रकाशक हैं और सारा जगत् उन की ही कृपा और प्रभाव से प्रकाश्य है । वही माया के स्वामी और ज्ञान तथा गुणों के धाम हैं । उन्हीं की सत्ता से यह जड़ (अचेतन) माया मोह की सहायता से (अर्थात् अन्धकार=अज्ञान में रखकर) मनुष्य को इतना भ्रमाती है कि उसको यह माया सत्य सी जान पड़ती है ।

टीका :—इसमें पहिली और इस चौपाई में “माया” में अभिप्राय भगवान् जगदीश्वर की “योग्यता” से है जिसके सम्बन्ध में गीता में कहा है :—

“नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ॥ (गी. ७, २५)

अर्थ :—मैं अपनी योगमाया से छुपा हुआ सब के प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । तथा “मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना” (गी. ८, ४)

अर्थात्—मैं इस सारे संसार पर अव्यक्त (अदृश्य) रूप में छुपा हुआ हूँ—अथवा सारे संसार में अदृश्य रूप में व्याप्त हूँ (योगमाया के द्वारा) ।

“योगमाया” का साधारण शब्दों में अर्थ है ‘प्रकृति के नियम’ । संसारचक्र प्रकृति के नियमों के अनुसार चल रहा है । यह प्रकृति के नियम वर्तमान रूप में केवल इसलिये हैं क्योंकि भगवान् की इनको इसी रूप में रखने की इच्छा थी । भगवान् प्रत्यक्ष रूप में तो हमारे

सम्मुख आते नहीं, जितना अंश उनका हमें उनके बनाये हुए इन प्रकृति के नियमों में दीख पड़ता है, केवल उसी सीमा तक और उतना ही हम प्रभु के दर्शन कर पाते हैं। प्रकृति के नियम भगवान् की इच्छायें हैं। भगवान् की इच्छायें जो हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा देख पाते हैं या अपनी बुद्धि के प्रयोग से विज्ञान (साइंस) द्वारा जान लेते हैं उसी को हम सत् (truth) तथा प्रकृति के नियम कहने लगते हैं। भगवान् ही प्रकृति के नियम हैं और प्रकृति के नियम भगवान्। भगवान् इन प्रकृति के नियमों द्वारा शासन करते हैं—किन्तु प्रतीत ऐसा होता है जैसे भगवान् स्वयं नहीं वरन् प्रकृति के नियम हम पर शासन कर रहे हैं और मानो संसार की गति और प्राणिमात्र के जीवन वह सब कुछ केवल प्रकृति के नियमों के आधार पर ही चल रहे हों (इसीलिये तो कहा है कि भगवान् अपनी योगमाया में छुपा हुआ सारे जगत् में व्याप्त हैं) यही कारण है कि लोग भगवान् को भूल कर यह कहा करते हैं कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह अपने आप केवल प्रकृति के नियमों के अनुसार हो रहा है—और परमात्मा कोई नहीं। उदाहरण के तौर पर अग्नि जलाती है और जल से प्यास बुझती है। हम कहते हैं कि यह “स्वाभाविक” है क्योंकि प्रकृति का यही नियम है। किन्तु ऐसा कथन यथार्थ में असत्य है। वास्तव में अग्नि और जल का यह “स्वभाव” इस लिये है क्योंकि भगवान् की ऐसी इच्छा है। यदि भगवान् की यह इच्छा होती कि हमारी अग्नि से प्यास बुझती और जल से वस्तुयें फूँक कर राख हो जातीं तो हम यह कहने लग जाते कि प्रकृति का ऐसा ही नियम है। हम प्रकृति के नियमों के चक्र में ऐसे फँसे हुए हैं कि उनके वस्तुतः बनाने वाले और नियन्ता का हमें कभी ध्यान नहीं आता। भगवान् इन प्रकृति के नियमों के पीछे छुपे रहते हैं। भगवान् की सरकार इतनी सम्पूर्ण और निपुण है कि वह (भगवान्) स्वयं मौके पर से अदृश्य हो जाते हैं, किन्तु वह

सदैव इन नियमों में स्थित और वर्तमान होते हैं, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि भगवान् तो कुछ भी नहीं कर रहे हैं—जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह तो केवल प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने आप ही हो रहा है। अर्थात् यही प्रकृति के नियम सत्य से भासने लगते हैं। संत तुलसीदास जी ने इस चौपाई में इसी भ्रम की ओर संकेत किया है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ॥  
आनन रहित सकल-रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।  
११७, ३.

भगवान् (ब्रह्म) के पाश्र्वों नहीं किन्तु वह चलता है, कान नहीं पर सब कुछ सुनता है, हाथों के बिना नाना प्रकार के कर्म आचरण करता है। मुँह के बिना ही वह सारे रसों का स्वाद चखता है और ज्ञान (वाणी) के बिना ही वह बड़ा भारी व्याख्यान देने वाला (वक्ता) तथा योगी है।

तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥

वह शरीर के बिना ही सब को छूता है, आँखों के बिना देखता है और नाक (घ्रान) के बिना ही हर प्रकार की गन्ध सूँघता है।

असि सब भान्ति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाई नहिं बरनी  
११७, ३.

इस तरह हर प्रकार से ब्रह्म के कार्य (करनी) अपूर्व हैं जिनकी महिमा कही नहीं जा सकती।

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढहिं असुर अधम अभिमानी ।  
तब तब प्रभु धरि बिबध शरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीड़ा ॥  
१२०, ३, ४.

जब-जब धर्म की हानि होती है और राक्षस नीच तथा अभिमानी लोगों की संख्या संसार में बढ़ जाती है। तब-तब भगवान् नाना प्रकार

के शरीर धारण करके सज्जन पुरुषों के दुःख और कष्टों को दूर करने आते हैं ।

टीका :—गीता में लिखा है :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (गी. ४, ७)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (गी. ४, ८)

अर्थ :—हे भारत ! जब-जब धर्म क्षीण होने लगता है और अधर्म बढ़ने लगता है तब-तब मैं अपने रूप को रचता हूँ (अर्थात् किसी शरीर (मानवी) में प्रकट होता (जन्म लेता) हूँ ।

मैं सज्जन पुरुषों की रक्षा करने के लिये और दुष्टों (दूषित कर्म करने वालों) को नष्ट करने के लिये और धर्म की दृढतापूर्वक स्थापना करने के लिये समय-समय पर प्रकट होता हूँ ।

असुर मारि थापहि सुरन्ह राखहि निज श्रुति-सेतु ।

जग विस्तारहि विपद जस राम जनम कर हेतु ॥१२१॥

(भगवान् इस प्रकार) असुरों को मार कर देवताओं को उभारते अर्थात् उनकी प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करते हैं और अपने वेद, धर्म-शास्त्रों की मर्यादा की रक्षा करते हैं और इस प्रकार अपना निर्मल यश संसार में फैलाते हैं । श्री रामचन्द्र जी के जन्म का यही कारण है (अर्थात् श्री रामचन्द्र जी का जन्म इसी उद्देश्य से हुआ है ।)

## ३. पूर्वानुराग—श्रीराम का

[इस तथा अगले दो प्रकरणों में भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता तथा सुसंस्कृति के गौरव की एक आदर्श झलक दिखाई पड़ती है। इन में गोस्वामी तुलसीदास जी ने आर्य-मर्यादा का अन्यन्त श्रेष्ठ वर्णन सुन्दर उपमाओं से अलंकृत करके इतनी उत्तम रीति से किया है कि आज तक संसार का कोई कवि या उपन्यासकार इसकी बराबरी नहीं कर पाया है। कहां प्राचीन भारत के विवाह-संस्कारों की पद्धति की उच्च पवित्रता तथा दिव्य आन्तरिक सम्बन्ध, और कहाँ आधुनिक यूरोप तथा अमरीका के भोग-विलास से परिपूर्ण अनुराग का बाह्य खोखला प्रदर्शन !]

कल सायंकाल जनकपुरी की सैर करते हुए श्रीराम नगर के बालकों के मुख से सुन आए हैं कि आज प्रातः जानकी जी मन्दिर में पूजा करने के लिए आयेंगी। अत एव जब वे गुरु-पूजा के लिये पुष्प लाने चले, तो उन्होंने जान-बूझ कर जनक महाराज के सब से श्रेष्ठ उद्यान से फूल तोड़ने का निश्चय करके लक्ष्मण से कहा कि आओ भैया ? कल राजा के बाग-बगीचे देखने से रह गये थे—आज वहाँ चलें। भाई को संग लेकर वे राजा के सब से बड़े बाग में पहुँचे जिसके मध्य में एक सुन्दर तालाब था। दोनों भाई उसके निकट पहुँच गये तो श्रीराम की आँखें चारों ओर सीता जी को ढूँढने लगीं। उसको न देख कर उन्होंने मालियों से बातों बातों में यह पता निकालने के लिये कि सीता जी कब तक इधर आयेंगी यह आज्ञा लेने का वहाना किया कि क्यों जी ! क्या हम कुछ फूल-पत्ते पूजा में चढ़ाने के लिये तोड़ लें ? इस प्रकार वे अपनी व्याकुलता छिपाने की चेष्टा करते हैं—

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन । लगे लेन दल फूल मुदित मन ।

(दोनों भाई) चारों ओर देख कर और मालियों की आज्ञा लेकर प्रसन्न चित्त से फूल-पत्ते इकट्ठे करने लगे ।

तेहि अवसर सीता तहँ आई । गिरिजा पूजन जननि पठाई ॥  
२२७,१.

उसी समय वहाँ पर सीता जी आई । उन्हें उनकी माता ने देवी पार्वती जी (गिरिजा) की पूजा करने के लिये भेजा था ।

टीका :—स्त्री-पुरुष की जोड़ी कायम रहने के लिये सती पार्वती जी की पूजा का धर्म-शास्त्रों में विधान है ।

संग सखी सब सुभग सयानी । गावहिं गीत मनोहर बानी ॥

सीता जी के साथ जो सखियाँ हैं वे सब सुन्दर तथा चतुर हैं—  
वे मधुर स्वर से गीत गाती चल रही हैं ।

सर समीप गिरिजागृह सोहा । बरनि न जाइ देखि मनमोहा ॥  
२२७,२

तालाब के पास पार्वती जी का सुन्दर मन्दिर शोभा दे रहा है,  
जिस का वर्णन नहीं हो सकता और जिस को देखते ही मन मोहित  
हो जाता है ।

मञ्जुन करि सर सखिन्ह समेत । गई मुदितमन गौरिनिकेता ।

सीता जी ने सखियों-समेत उस तालाब में स्नान किया और उसके  
पश्चात् हर्षितमन के साथ पार्वती (गौरी) जी के मन्दिर में गई ।

पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा । निज अनुरूप सुभग वर मांगा ॥३॥

उन्होंने (आगे से भी) अधिक प्रेम के साथ गौरी की पूजा की और  
अपने ही जैसा चतुर-सुन्दर तथा सौभाग्य-युक्त (सुभग) वर (पति) मांगा ।

एक सखी सिय-संग बिहाई । गई रही देखन फुलवाई ।

तेहि दोउ बन्धु बिलोके जाई । प्रेम बिबस सीता पहिं आई ॥४॥

उन में से एक सखी सीता जी का साथ छोड़ कर फुलवाड़ी देखने चली गई ! उसने उन दोनों भाइयों को देखा और प्रेम से विह्वल सी हुई वह सीता जी के पास तुरत लौट आई ।

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन ।  
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन ॥२२॥

सखियों ने उस की दशा देखी कि शरीर में रोमांच हुआ है और आँखों में जल भरा हुआ है । सब सखियाँ उस को मीठे वचनों से पूछने लगी कि इतने हर्ष का कारण तो बताओ (कहु) ।

देखन बाग कुंअर दुइ आये । वय किसोर सब भान्ति सुहाये ॥

(उसने कहा) कि बाग देखने को दो राजकुमार आए हैं—उनकी किशोर अवस्था है और सब प्रकार से मन को मोहने वाले हैं ।

श्याम गौर किमि कहऊं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥१॥

उन में से एक श्याम रंग के और दूसरे का रंग गोरा है ! उनके सौन्दर्य का मैं कैसे वर्णन कर सकती हूँ क्योंकि वाणी (गिरा) के पास आँखें नहीं आँखों के पास वाणी नहीं ।

मुनि हर्षीं सब सखी सयानी । सिय हिय अति उत्कंठा जानी ॥

यह सुन कर सब सखियाँ बहुत प्रसन्न हुईं और सीता जी अत्यन्त व्याकुल हो उठीं (यह जानने के लिये कि यह राजकुमार कौन हैं) यह देख कर—

एक कहइ नृपसुत तेइ आली । सुने जे मुनि संग आये काली ॥२॥

एक सखी बोल उठी—अरी सग्वियो (आली) ! ये वे ही राजकुमार हैं, जिनके बारे में सुना है कि वे कल मुनि के संग आए हैं ।

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी । कीन्ह स्वबस नगर नर नारी ॥

जिन्होंने अपने सुन्दर रूप का जादू डाल कर नगर के सब नर-  
नारियों को अपने वश में कर लिया है ।

बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू । अवसि देखिअहिं देखन जोगू ॥३॥

जिधर देखो लोग उन की शोभा की ही चर्चा कर रहे हैं । उनको  
अवश्य (अवसि) देखना चाहिये । वे देखने योग्य हैं ।

तासु वचन अति सियहि सुहाने । दरस लागि लोचन अकुलाने ।

उस सखी के वचन सीता जी को बहुत प्यारे लगे और उनके दर्शन  
करने के लिये सीता जी की आंखें चंचल हो उठीं ।

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई । प्रीति पुरातनि लखइ न कोई ॥४॥

उसी सखी को आगे कर (जो राजकुमारों को देख आई थी) सीताजी  
चलीं । उनकी पुरानी प्रीति को कोई नहीं जानता ।

टीका :— १. इस पुरानी प्रीति का वर्णन अगले दोहे में किया है ।

२. उसी सखी को आगे कर अर्थात् उस पुरानी प्रीति को सन्मुख  
रख कर—क्योंकि एक नारी के लिये परपुरुष को भांकना भी पाप है—  
अत एव सीता जी उसी पुरानी प्रीति का आश्रय लेकर उधर ही  
जाती हैं ।

सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत ।

चकित विलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी समीत ॥२२६॥

सीता जी को नारद जी के वचन याद आ गए और उनके हृदय  
में पवित्र प्रीति जाग उठी ! अत एव वे हिरणी के एक बच्चे (सिसु)  
की तरह घबराई हुई चारों ओर चौंक-चौंक कर देखने लगीं ।

टीका :—नारद जी ने एक बार सीता जी से कहा था कि तुम  
प्रथम बार श्री रामचन्द्र जी के दर्शन एक फुलवाड़ी में करोगी—फिर  
उसके बाद जबकि विवाह होगा । “नववि” प्रीति का विवाह होगा

क्योंकि यह प्रीति अपने भर्ता (भावी पति) की ओर ही उपजी है, किसी पराये पुरुष के लिये नहीं ।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लषन सन राम हृदयँ गुनि ।

(सीता जी के) कंगन, करधनी और बिच्छुओं (पाजियों) की आवाज़ सुन कर श्रीराम अपने हृदय में विचार कर (गुनि) लक्ष्मण जी से कहने लगे कि—

मानहुँ मदन दुँदुभी दीन्हीं । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं ॥१॥

(कैसी सुन्दर आवाज़ है) मानो सारे विश्व को जीत लेने के विचार से (मनसा) कामदेव अपना नगारा बजा रहा हो ।

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा ।

यह कह कर उन्होंने उस ओर देखा (जिधर से यह आवाज़ आ रही थी) और तब सीता जी के चन्द्रमा जैसे मुख को देख कर उनकी आंखें चकोर (पंखी) बन गईं (जो चन्द्रमा को देख कर बावला सा बना हुआ उसी की ओर टिकटिकी लगा कर देखता रहता है ।)

भये विलोचन चारु अचंचल । मनहुं सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥२॥

जो सुन्दर नेत्र जानकी जी को देखने के लिये व्याकुल थे वे स्थिर हो गए (वहीं के वहीं, जहां पर थे ठहर गए) अर्थात् आंखें खुली की खुली रह गईं । (पलकों को निमेष कहते हैं क्योंकि राजा निमि इन्हीं में वास करते हैं) । मानो राजा निमि लज्जा कर (सकुचि) पलकों में अपना वास छोड़ कर भाग गया हो अर्थात् पलकों ने खुल कर फिर बन्द होने का कार्य ही छोड़ दिया—वे देर तक खुली की खुली ही रह गईं ।

देखि सीय सोभा सुखु पावा । हृदयँ सराहत वचनु न आवा ।

सीता जी की शोभा को देख कर श्री रामचन्द्र जी को बहुत सुख

मिला, जिस को उन्होंने मन ही मन में सराहा, किन्तु आनन्द के मारे उनके मुख से वचन एक भी न निकला ।

जनु विरंचि सब निज निपुनाई । विरति बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥३॥

(उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा) मानो ब्रह्मा ने सीता जी को बनाने में अपनी सारी कारीगरी और चतुरता उँडेल दी और सीता जी को रच कर उन्होंने विश्व को दिखा दिया कि मुझ में कितनी अनुपम योग्यता है ।

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा विचारी ।

बोले सुचि मन अनुज सन वचन समय अनुहारी ॥२३०॥

श्रीराम मन ही मन में सीता जी की शोभा का वर्णन करके अपनी दशा पर विचार करने लगे (अर्थात् उन्हें यह सोच कर अपने ऊपर लज्जा आने लगी कि मैं इतना प्रेम में मग्न हो गया हूँ यह मुझे शोभा नहीं देता)—इस लिये (अपनी भैंस मिटाने के लिये) शिष्टाचार के अनुसार (समय अनुहारी) उन्होंने अपने छोटे भाई से बातें करनी आरम्भ कर दीं ।

तात जनक तनया यह सोई । धनुष जग्य जेहि कारण होई ।

(वह कहने लगे) यह पूज्य राजा जनक की वही कन्या (तनया) है जिस के लिये धनुष यज्ञ (जग्य) हो रहा है ।

पूजन गौरि सखीं लेइ आई । करत प्रकासु फिरइ फुलवाई ॥३॥

वह मा पार्वती जी की पूजा करने के लिये सखियों के साथ यहा पर आकर अपनी दिव्य शोभा से सारी फुलवाड़ी को प्रकाशित करती (जगमगाती) फिर रही है ।

जासु विलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।

उस की शोभा इतनी अपूर्व है कि मेरा मन भी, जो स्वभाव (सहज) से ही सदैव गद्ग और पवित्र रहता है. चंचल हो उठा है । अर्थात् मेरे

मन की प्रकृति ही शुरू से ऐसी ब्रह्मा ने बनाई है कि उस में अशुद्ध और अपवित्र विचार कभी आ ही नहीं सकता ।

सो सब कारन जान विधाता । फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता ॥२॥

इसका क्या कारण है यह तो भगवान् ही जाने, परन्तु हे भाई ! एक बात अवश्य है कि मेरे शुभ अंग—दहिना हाथ नेत्र आदि—फड़क रहे हैं (जिस से कोई शुभ कार्य होने का आभास मिलता है) ।

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरें न काऊ ।

रघुवंश में जन्म लेने वाले पुरुषों का यह प्राकृतिक स्वभाव है कि उनका मन कभी बुरे मार्ग की ओर नहीं झुकता, और न वे उस मार्ग में एक पग भी रखते या चलते हैं ।

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहिं सपनेहुँ परनारी न हेरी ॥३॥

मुझे अपने मन पर पूरा-पूरा (अतिसय=अत्यन्त) विश्वास (प्रतीति) है जिस ने कभी स्वप्न में भी पराई स्त्री को नहीं देखा (हेरी), (अर्थात् मेरा विश्वास है कि अब तो सीता जी को देख कर मेरा मन चलायमान हो गया है इस लिये वही मेरी भविष्य में धर्मपत्नी बनने वाली है, अन्यथा मेरा मन कभी डांवाडोल न होता) ।

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान ।

मुख सरोज मकरन्द छबि करइ मधुप इव पान ॥२३१॥

श्री रामचन्द्र जी अपने भाई के साथ (अनुज सन) बातें करते चले जा रहे हैं और उन का मन सीता जी के रूप पर इतना लट्ठ-हुआ है (रीझ गया है) कि जिस प्रकार भंवरा (मधुप) फूल का रस (मकरन्द) पीता है उसी तरह वे सीता जी के कमल के समान सुन्दर मुख (मुख सरोज) की कान्ति (छबि) को देखते जा रहे हैं ।

टीका :—जैसे भंवरा फूल का रस थोड़ी देर पीकर उस पर से उड़ कर उसके चारों ओर गूँजता फिरता है और फिर रस चूसने के

लिये उस फूल पर आ बैठा है—इसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी थोड़ी देर जानकी जी को देखने के पश्चात् लक्ष्मण जी से बातें करने लग जाते थे । लगातार इस लिये नहीं देखते क्योंकि यह अशिष्टता होती और उन्हें स्वयं लज्जा भी आती थी—अत एव वह बीच-बीच में अपनी दृष्टि जानकी जी की ओर से हटा कर भाई के साथ एक दो बातें करके फिर सीता जी को देखने लग जाते थे । इसके अतिरिक्त एक और कारण भी था । भंवरा फूल को कष्ट नहीं देना चाहता । अत एव वह सारा रस एक ही बार नहीं चूस लेता । प्रेमी अपनी प्रेमिका को कभी कष्ट नहीं देना चाहता । इसी लिये श्रीराम जानकी जी को बराबर ताकते नहीं रहते—क्योंकि इस से सीता जी अवश्य भेंप जातीं और सम्भव है बुरा भी मान जातीं ।

—:०:—

## ४. पूर्वानुराग—जानकी जी का

पिछले प्रकरण में श्रीराम की व्यथा का वर्णन है। उधर जानकी जी की क्या दशा हुई—उस का विवरण इस प्रकरण में है :—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गये नृपकिसोर मन चिन्ता ॥

(घबराहट के मारे सीता जी की आँखों के सामने अन्धेरा सा आ जाता है और) सीता जी चकित सी हुई चारों ओर देख रही हैं (चितवति) कि वह राजकुमार किधर चले गए यही मन में चिन्ता बराबर लगी हुई है।

जहँ विलोकि मृग-सावक-नैनी । जनु तहँ बरिस कमल-सित-स्रेनी  
॥२३१, १.॥

वह हिरन के बच्चे (मृग-सावक) के समान नेत्रों वाली जिधर आँखें घुमा कर देखती है उधर ही मानो सफेद (सित) कमलों की एक पंक्ति (स्रेनि=श्रेणी) बन जाती है (बरिस=बरस पड़ती है)।

टीका :—सीता जी की आँखों में जल आया हुआ है अतः एव उनकी आँखों को सफेद (जल की बिन्दु के समान) कमल से उपमा दी। दूसरा कारण यह भी है कि सीता जी घबराहट में जल्दी-जल्दी इधर-उधर देखने के लिये आँखें घुमाती हैं तो उनकी आँखों की पुतलियाँ (डोले) जो काली स्याह होती हैं आँखों के किनारों पर चली जाती हैं और इस लिये केवल आँख की सफेदी ही दीख पड़ती है।

लता ओट तब सखिन लखाये । स्यामल गौर किसोर सुहाये ॥  
२३१, २.

तब सखियों ने (इशारे से) सीता जी को लता की ओट (भुग्मुट)

की ओर दिखाया कि वह देखो श्याम (राम) आर गोरे रंग के (लक्ष्मण) दोनों भाई वहां पर कैसे सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं ।

थके नयन रघु-पति-छवि देखे । पलकन्दिहू परिहरीं निमेखे ।

श्रीराम की कान्ति को एकटक (बराबर) देखते-देखते सीता जी के नयन (इतने) थक गए कि पलकों ने अपना खुलने और मिचने (बन्द होने) का कर्म ही मानो त्याग दिया अर्थात् सीता जी प्रेम से इतनी विवश हो गई कि वे बराबर श्रीराम जी को देखे जा रही हैं और उन्हें अपनी कोई सुध-बुध नहीं ।

अधिक स्नेह देह भई भोरी । सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥३॥

जिस प्रकार शरद् ऋतु के चन्द्रमा (ससि) को देखते-देखते (चितव) चकोरी अपने होश खो बैठती है उसी तरह सीता जी को भी बहुत अधिक प्रेम से विवश हो जाने के कारण अपने तन की कोई सुध-बुध न रही (देह भई भोरी) ।

लोचनमग राम हिं उर आनी । दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥

(सीता जी ने) आखों के रास्ते (मग) श्रीराम जी को अपने हृदय (उर) में ला बिठाया और वह इतनी स्थानी है कि (इस विचार से कि कहीं वे वहां से भाग न जाएँ) अपने नेत्रों के पलकरूपी किड़ाड़ (कपाट) बन्द कर लिये अर्थात् अपनी आखें मूँद ली ।

जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी । कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥४॥

जब सीता जी की सखियों ने सीता जी को इतना प्रेम के वश में देखा तो वे मन में बहुत सकुचाई और मुख से कुछ न कह सकी ।

धरि धीरज एक आलि सयानी । सीता सन बोली गहि पानी ॥

तब उन में से एक सयानी सखी ने धीरज धर कर सीता जी का हाथ (पानी) पकड़ कर (गहि) कहा कि—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू । भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥  
२३३,१.

पार्वती जी का ध्यान तो फिर भी पीछे से (बहुरि) हो सकेगा ।  
(यह अनमोल समय आंग्वें बन्द करके क्यों नष्ट कर रही हो) एक बार  
(जी भर के) इन राजकुमारों को क्यों नहीं देग्व लेता ?

सकुचि सीय तब नयन उचारे । सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे ।

(सखी के हाथ पकड़ने पर और यह व्यंग्यमय वाक्य सुन कर) सीताजी  
ने लजाते-लजाते अपनी दोनों आंग्वें खोल दी और अपने सामने रघुवंश  
के दोनों महावीरों (सिंघ) को देखा ।

टीका :—अर्थात् अभ्रखुले नेत्रों से देखा, पूरे नेत्र इस लिये नहीं  
खोले कि जो श्रीराम की मूर्ति उसने अभी अपने हृदय में बिठाई है  
वह कहीं पूरे नेत्र खोलने से उनके रास्ते निकल न जाए ।

नख सिख देखि राम कै सोभा । सुमिरि पिता-पनु मनु अति छोभा ॥  
२३३,२.

सीता जी राम जी के रंग-रूप (सोभा) को सिर से पाओं तक (नख  
सिख=नाखुनों से लेकर सिर तक) देख कर (बहुत प्रसन्न तो हुई—  
किन्तु उनकी किशोर अवस्था को देख कर) अपने पिता जी का प्रण  
(पन) याद करके उनके मन में बहुत धक्का लगा (कि क्या ये धनुष  
भङ्ग कर भी सकेंगे ? ) ।

जानि कठिन सिवचाप विसूरति । चली राखि उर स्यामल मूर्ति ।

शिव जी के धनुष को कठिन जान कर वह मन में मसोसने लगीं  
(विसुरति=सुरत खो बैठी=गहरी सोच में पड़ गई) तो भी हृदय में  
श्याम मूर्ति (श्रीराम) को रख कर (पार्वती जी के मन्दिर की ओर) चलीं ।  
प्रभु जब जात जानकी जानी । सुख सनेह सोभा गुन खानी ॥  
२३४,१

जब श्रीराम (प्रभु) ने (फुलवाड़ों से) मुख स्नेह शोभा और गुणों की खान सीता जी को लौट कर जाते देखा, तो—

परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्ही । चारु चित्त भीति लिखि लीन्ही ।

श्रीराम ने परम प्रेम-रूपी कोमल स्याही (मसि) से अपने हृदय-पटल (चित्त भीति) पर उनका चित्र (चारु) (असाधारण चारों ऊपर की बाते अर्थात् मुख स्नेह शोभा और गुण वाली महिला सीता जी का) लिख लिया ।

टीका :—गोस्वामी तुलसीदास जी ने पुरुष और स्त्री के प्रेम में अन्तर को किस अपूर्व सुन्दरता से वर्णन किया है कि सीता जी ने तो श्रीराम जी की मूर्ति को अपने हृदय के सिंहासन पर स्थापित कर दिया किन्तु श्रीराम ने अपने हृदय-पट पर केवल सीता जी का एक चित्र खिंच लिया अर्थात् जहाँ स्त्री अपने पति को अपना सर्वस्व मानती और बनाती है, पुरुष का अपनी पत्नी की ओर इतना गहरा प्रेम कभी नहीं होता ।

गई भवानी भवन बहोरी । बंदि चरन बोली कर जोरी ॥  
२३४, २.

सीता जी पार्वती जी के मन्दिर में गईं और उनके चरणों में सिर नवा कर और हाथ जोड़ कर विनती करने लगी ।

जय जय गिरिवर राज किसोरी । जय महेस मुख-चन्द-चकोरी ॥

हे महान् पर्वतों (गिरिवर) के राजा की कन्या ! आप की जय हो जय हो । हे महादेव जी (महेश) के मुख-चन्द्र की चकोरी (धर्मपत्नी) ! आप की जय हो ।

टीका :—हिमालय पर्वत को सब बड़े-बड़े पर्वतों का राजा इसलिये कहा गया है—क्योंकि जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा का बहुत उपकार

करता है, इसी तरह यह भी भारतवर्ष का बहुत बड़ा उपकार करने वाला है, क्योंकि इसी की गोद से निकल कर महा नदियां गंगा, यमुना, सतलुज, ब्रह्मपुत्र आदि अपने जल से भूमि को सींच कर उसे अन्न तथा अन्य खाद्य पदार्थ बहुत बड़ी मात्रा में पैदा करने के योग्य बनाकर भारतवासियों का पालन-पोषण करती हैं। सीता जी का प्रयोजन यह है कि जब आप इतने महान् उपकारी व्यक्ति की पुत्री हैं तो आप भी मेरा उनके समान ही उपकार करें।

जय गज-बदन-पडानन-माता । जगत जननि-दामिनी-दुति-गाता ॥

२३४,३.

हे गणेश जी ( गज-बदन=हाथी जैसे सुन्दर मुख वाले ) और स्वामिकार्तिक (पडानन) की माता ! आप की जय हो । हे सारे जगत् की माता जिनके शरीर (गाता) की दमक (दुति) बिजली (दामिनी) के समान (मनुष्य की आखों को चौन्ध्या देने वाली) है ! आप की जय हो ।

टीका :—इस और इस से ऊपर की चौपाई में सीता जी पार्वतीजी की स्तुति स्त्री के चारों रूप (कुमारी, बहू, माता तथा जगन्माता अर्थात् जब बड़ी अवस्था में जाकर बच्चे, युवा, बूढ़े सभी नारी को “माँ” कह कर पुकारने लगते हैं) में करती हैं। इस प्रकार पार्वती जी की जयकार बुलाने से सीता जी उन से यह याचना करती हैं कि हे माँ ! मैं भी आप जैसी इन चारों अवस्थाओं (कुमारी, बहू, माता, जगन्माता के रूप) में सती साध्वी बन कर संसार में यश और सुख्याति को पाऊँ—यही मुझे आशीस दो ।

भव-भव विभव पराभव कारिनि । विश्व-विमोहनि भव-वस विहारिनि

२३४,४.

आप जगत् को उत्पन्न करने वाली (भव=जगत्—भव जन्म देने वाली), पालन-पोषण करने वाली (विभव) और संहार (नष्ट-भ्रष्ट)

करने वाली (पराभव) हो । सारे विश्व को मोहने वाली (अपने माया जाल से) हो और जैसी आपकी इच्छा होती है वैसी नाना प्रकार की अपनी लीलाएँ दिखाती हो ।

टीका :—सीता जी को “जगज्जननी” के नाम से पार्वती जी को सम्बोधित करते ही ध्यान आया कि स्त्री तो देवी का अवतार होती है जो सर्वव्यापी परमेश्वर का दूसरा रूप महाशक्तिमयी जगन्माता है । अत एव अब वह पार्वती जी की इस रूप में आराधना करने लगती हैं ।  
सेवत तोहि सुलभ फल चारी । बरदायिनि त्रिपुरारि पियारी ॥

आपका सेवन करने से मनुष्य को चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) आसानी से प्राप्त हो जाते हैं । आप वर देने वाली हो और आप त्रिपुर के शत्रु (अरि=शत्रु) शिव जी की प्यारी (धर्मपत्नी) हो ।

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे । सुर नर मुनि सब होहि सुखारे ॥  
२३५,१.

हे देवि ! तुम्हारे चरणकमल को पूज कर देवता, मनुष्य, मुनि लोग सभी निहाल हो जाते हैं (अर्थात् उनकी मनोकामना पूरी हो जाती है) ।

मोर मनोरथ जानहु नीके । बसहु सदा उर पुर सब ही के ॥

आप तो मेरे मनोरथ (अभिलाषा) को अच्छी तरह से (नीके) जानती ही हो क्योंकि आप सदा सभी के हृदय (उरपुर=अन्तःकरण) में वास करते हो ।

कीन्हेउं प्रगट न कारन तेही । अस कहि चरन गहे वैदेही ॥  
२३५,२.

इस कारण मुझे वह (मुख से) प्रगट करने की कोई आवश्यकता नहीं । इतना कह कर सीता जी (वैदेही) ने (गौरी जी के) चरण पकड़ (गहे) लिये ।

टीका :—वैदेही=विदेह की पुत्री अर्थात् महाराज जनक की पुत्री । महाराज जनक को विदेह इसलिए कहा गया है क्योंकि भगवान् की अनन्य भक्ति करते-करते उन्होंने अपने आप को उन्हीं के स्वरूप में सर्वथा विलुप्त कर दिया था, मानो उनका कोई भौतिक शरीर न रहा था—विदेह अर्थात् देहहीन ।

भारत रमणी की स्वाभाविक लज्जा का इस चौपाई में कैसा मनोहर प्रदर्शन है ।

विनय प्रेम बस भई भवानी । खसी माल मूरति मुसुकानी ॥

जानकी जी की विनम्रतापूर्ण भक्ति और सच्ची श्रद्धा से युक्त प्रेम को देख कर गौरी जी अधीर हो उठीं और इसी कारण सीता जी ने जो उन पर माला चढ़ाई थी वह खिंक (फिसल) पड़ी (मानो गौरी जी के हाथ से छूट कर भूमि पर गिर पड़ी हो) और मूर्ति मुस्कराई ।

टीका :—भक्त की पुकार सुन कर प्रभु बड़े वेग से उस की सहायता करने को दौड़े आते हैं—“सुनत ढेर धाये प्रभु आए वेग नेड़े” । भला मां अपने बालक को बिलकते देख कर अपने आप को कैसे रोकें रख सकती है—वह भट उसे गोद में उठा कर नाना प्रकार से उसको पुचकारती और दिलासा देती है । मूर्ति पर चढ़ाए हुए फूल का उस पर से खिसक कर गिरना शुभ लक्षण माना जाता है । भगवान् अपने सच्चे भक्तों को उनकी प्रार्थना का उत्तर किसी न किसी रूप में अवश्य संकेत कर देते हैं । मूर्ति के मुस्कराने का अभिप्राय यही है कि सीता जी को मन में तब अपने आप कुछ ऐसा अनुभव हुआ और प्रतीत होने लगा मानो, भगवान् ने उन की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया है । मूर्ति के मुस्कराने का यही भावार्थ है ।

सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ । बोली गौरि हरषु उर भरेऊ ॥

सीता जी ने बड़े आदर के साथ वह प्रसाद (पुष्प-माला) अपने सिर पर धर लिया और (उधर) देवी भवानी हर्ष और आनन्द से भरे हुए हृदय (उर) के साथ कहने लगीं ।

टीका :—कहने लगीं, अर्थात् सीता जी को यह दिव्य-वाणी सुनाई पड़ी—ऐसा उन के अन्तःकरण में अनुभव हुआ ।

सुनु सिय सत्य असीस हमारी । पूजिहि मन कामना तुम्हारी ॥  
हे सीता ! हमारी सच्ची आशीस सुनो । तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी ।

नारद वचन सदा सुचि साचा । सो वर मिलिहि जाहीं मनु राचा ॥  
२३५,४.

नारद जी का वचन सदा शुद्ध पवित्र ( सुचि=शुचि ) और सच्चा (साचा) हुआ करता है । इसलिये तुम्हें वही वर मिलेगा जिस में तुम्हारे मन की रुचि (राचा) है अर्थात् जो तेरे मन को भाया है ।

एहि भान्ति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हर्षित अली ।  
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मन्दिर चली ॥

इस प्रकार गौरी जी की आशीष सुन कर सीता जी सखियों सहित बहुत प्रसन्न हुईं । तुलसीदास जी कहते हैं कि फिर बार-बार पार्वती जी का पूजन करके सीता जी प्रफुल्लित मन के साथ उस मन्दिर से लौट कर (अपने घर को) जाने लगीं ।

## ५. पवित्र प्रेम-धारा

[इस प्रकरण से विदित होता है कि भारत की प्राचीन सभ्यता में प्रेम की मर्यादा कितनी शुद्ध, पवित्र और कैसी उच्च कोटि की थी तथा इस में इस युग की नई पाश्चात्य देशों की सभ्यता के अनुसार जो प्रेम की प्रकट तथा गुप्त लीलाएं होती हैं, उन की गन्ध तक भी नहीं ।]

प्रातः सीता जी जब भवानी के मन्दिर में पूजन करने के पश्चात् अपनी सखियों सहित उस बाग से लौट पड़ीं तो श्रीराम भी पुष्प लेकर भाई सहित अपने गुरु विश्वामित्र जी के पास पहुँचे:—

राम कहा सब कौसिक पाहीं । सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥  
२३६,१.

श्रीराम ने विश्वामित्र जी (कौसिक=कौशिक) से, आज प्रातः जो बाग में सीता जी को देखा था, उसका सारा हाल कह सुनाया, क्योंकि उनका स्वभाव सरल है और उन को छल कपट तो छुआ तक नहीं ।

टीका:—श्रीराम के मन में कोई पाप न था—उन्होंने निःसंकोच सारी बातें अपने गुरु जी से इसलिये कह दीं कि वह अभी तक अपने मन की व्याकुलता और चंचलता को देख कर निश्चय न कर पाए थे कि उन का यह आचरण धर्म और आर्य-संस्कृति के अनुकूल हुआ है या नहीं, और क्या उन्होंने ने कहीं आर्य-मर्यादा का उल्लंघन तो नहीं किया ।

सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही । पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही ।  
सुफल मनोरथ होहि मुम्हारे । रामु लखनु सुनि भये सुखारे ॥  
२३६,२.

मुनि जी (विश्वामित्र जी) ने फूल (सुमन) लेकर पूजा की और फिर

दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया (कि) तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी जिस को सुन कर राम और लक्ष्मण दोनों भाई बड़े खुशी हुए।

टीका:—अपने गुरु जी की यह आशीष पा कर श्रीराम का अपने आचरण के सम्बन्ध में जो शंका थी वह दूर हो गई। और उन का मन शान्त हो गया। अत एव सायंकाल होने पर:—

प्राची दिसि ससि उगउ सुहावा । सिय-मुख-सरिस देखि सुख पावा ॥

पूर्व (प्राची) दिशा में सुहावना (सुहावा) चन्द्रमा (ससि) उदय हुआ (उगउ), और उसको सीता जी के मुख के समान (सरिस=सरीखा) (मनोहर) देख कर रामचन्द्र जी ने बहुत सुख पाया।

बहुरि विचारु कीन्ह मन माहीं । सीय-बदन-सम हिमकर नाहिं ॥

२३६, ४.

फिर (बहुरि) उन्होंने मन में विचार किया कि चन्द्रमा (हिमकर) सीता जी के मुख (बदन) के समान नहीं है—(क्योंकि)

जनमु सिंधु पुनि दंधु विष दिन मलीन सकलंक ।

सिय-मुख-समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक ॥ २३७,

जिस का जन्म (खारे) समुद्र (सिन्धु) से हुआ जिस का बन्धु (भाई) विष है (क्योंकि “इलाहल” विष भी तो समुद्र से ही जन्मा है) जो दिन में पीका (मलीन) पड़ जाता है और जो कलंकी है (क्योंकि चन्द्रमा में कई काले धब्बे हैं), बाप रे! (बापुरो) ऐसा कंगाल (रंक) चन्द्रमा भला कैसे सीता जी के मुख की बराबरी कर सकता है।

टीका:—इस स्थल पर ध्यान से देखने के योग्य बात यह है कि इस दोहे और अगली चार चौपाइयों में सीता जी के शारीरिक स्वरूप तथा लावण्य का नाम तक नहीं है। संयम में रहने वाले और धर्मानुकूल आचरण करने वाले मनुष्यों के मुख पर से जो एक विशेष प्रकार की दीप्ति की किरणें फूटा करती हैं—सीता जी के मुख पर केवल उन्हीं को

देख कर श्रीराम इतने प्रभावित हुए हैं और उनका सीता जी के स्वाभाविक रूप अंख, मुख, चाल आदि के सौन्दर्य की ओर ध्यान ही नहीं गया। यही मर्यादापुरुषोत्तम के उच्च चरित्र की एक महत्ता है।

घटइ बढइ बिरहनि दुख दाई। प्रसइ राहु निज संधिहि पाई ॥

चन्द्रमा घटता (कृष्ण पक्ष में) बढ़ता (शुक्ल पक्ष में) रहता है और बिछड़े हुए प्रेमियों को दुःख देता और अपनी सधि में पाकर राहु उसे प्रस भी लेता है।

कोक सोक-प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही ॥

२३७, १.

चकवा चकवी (कोक) को दुःख देने वाला है (रात में चकवा चकवी अलग-अलग रहते हैं और एक दूसरे को मिलने के लिये तड़पते रहते हैं), और कमल फूलों का अनिष्ट चाहने वाला है (कमल साथ होते ही बन्द हो जाते हैं और सूर्य उदय होने पर खिलते हैं)। हे चन्द्रमा! तुझ में ऐसे बहुत से अवगुण हैं।

वैदेही-मुख-पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥

(किन्तु) मैंने यह कर्म बहुत अनुचित किया है जो वैदेही (सीता जी) के मुख की तुलना (चन्द्रमा से) की है।

टीका :—सीता जी को “वैदेही” इस लिये पुकारा क्योंकि अभी वह कुमारी है—वैसे भी भारतवर्ष में अपनी पत्नी का नाम कोई नहीं लेता, क्योंकि इस को अशिष्टता समझा जाता है। श्रीराम को अपना यह कर्म कई कारणों से बड़ा अनुचित लगा है (१) सीता जी अभी कैशरी हैं क्या मेरा उनका ध्यान करना भी असभ्यता नहीं? (२) क्या इस प्रकार उसका चिन्तन करने से भी उस की आन को बढ़ा तो नहीं लगा? (३) सीता जी का चन्द्रमा से मुकाबला अनर्थ है—चन्द्रमा की कान्ति सीता जी की आभा के सामने तुच्छ है। (४) आज तक

मुझे चन्द्रमा में कभी दोष नहीं दीखे और आज सीता जी को देख कर मुझे इस में दोष ही दोष नज़र पड़ते हैं ।

सिय-मुख-छवि बिधु ब्याज बखानी । गुरुपहिं चले निसा बड़ि जानी ॥

२३७, २.

इस प्रकार चन्द्रमा के नाम की आड़ लेकर (चन्द्रमा के बहाने (ब्याज) सीता जी के मुख की कान्ति का वर्णन (अपने मन में बहुत देर तक) करते रहे । फिर यह देख कर कि रात बहुत बीत चुकी है वह अपने गुरु जी के पास गए (कि अब गुरु जी के सोने का समय हो गया है—देखें—उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं) ।

करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा । आयसु पाइ कीन्ह विस्वामा ॥

२३७, ३.

(और) वहां जाकर उनके चरणकमलों में प्रणाम किया और उनकी आज्ञा (आयसु) पाकर विश्राम करने चले गए (अर्थात् अपने स्थान पर जाकर सो रहे) ।

टीका :—सो गए अर्थात् सुख चैन के साथ । यह है आर्य जाति के प्रणय का एक ज्वलन्त दृष्टान्त । यदि उन का सीता के केवल शारीरिक सौन्दर्य से लगाव होता तो वे क्योंकर शान्तचित्त होकर सो सकते थे । अन्यथा वह सारी रात हाय-हाय करते रहते और बेचैनी से तड़पने के कारण उनकी यह अवस्था होती कि “करवटें लेते ही लेते साफ (साफ़) उड़ जाती है नींद ।”

अगले दिन श्रीराम गुरु जी के आशीर्वाद को पाकर बड़े उत्साह से अपने भाई लक्ष्मण के साथ होने वाले स्वयम्बर की सभा में गए । वहां पर बहुत से राजा और राजकुमार पहले से ही एकत्रित थे । महाराज जनक की रानियां भी वहां पर आ पहुँचीं और जानकी जी भी अपनी सखियों सहित आईं तो सीता जी ने श्रीराम को देख कर लज्जा से आँखें नीची कर लीं—

प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल  
खेलत मनसिज-मीन-जुग जनु बिधुमण्डल डोल ॥

२५८.

श्रीराम को देख कर (जानकी जी) फिर धरती (मही) को देखने लगीं। (उस समय) उनके चंचल (लोल) नेत्र (लोचन) ऐसे चमक (राजत) रहे थे, मानो कामदेव (मनसिज=कामदेव मीनकेतु भी कहलाता है) की दो मछलिया (मीन जुग) चन्द्र (बिधु) मंडल के भूले (डोल) में भूल रही (खेलत) हों। (यहा जानकी जी के मुख को चन्द्र मण्डल और उनके नेत्रों को मछलियों से उपमा दी गई है)।

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।

जानकी जी की वाणी (गिरा) रूपी भंवरी (अलिनि) को मुख कमल ने रोक लिया लज्जा रूपी रात (निसा) को देख कर (अवलोकी) वह प्रगट नहीं होती।

टीका :—रात पड़ते ही कमल के फूल बन्द हो जाते हैं—क्योंकि सीता जी को लज्जा आ गई है इस लिये अब उनके मुख से कोई वचन नहीं निकल पाता।

लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम रुपन कर सोना ॥

२५८, १.

उनकी आंखों में जो आंसू उमड़े आ रहे हैं वे आंखों के कोनों में ही अटक रहे गए हैं (यदि अश्रु बहने लगते तो सीता जी की प्रेम विवशता प्रगट हो जाती और यह अशिष्टता होती) जैसे महाकंजूम का सोना (जो भूमि में उसने गाड़ा होता है या कहीं छुपा कर रखा होता है उसको वह हाथ नहीं लगाता और वह वहीं धरा का धरा ही रहता है)।

तब सीता जी ने मन में कहा कि यदि मेरी प्रीति सच्ची है तो :—

तौ भगवान सकल-उर-वासी । करिहि मोहि रघुबर की दासी ॥

तो भगवान् जो सकल मनुष्यों के हृदय में वास करते हैं, मुझे अवश्य श्रीगम की दासी बना देंगे ।

जेहि के जेहि पर सत्य म्नेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥

२५८, ३.

जिस का जिस के साथ सच्चा प्रेम होता है, उस को वह अवश्य मिल जाता है, इस में कुछ भी सन्देह नहीं ।

टीका :—यही हमारे धर्म-शास्त्रों का एक सूत्र है कि यदि हम सच्चे हृदय से और श्रद्धा के साथ ईश्वर को पाने की याचना करें, तो भगवान् अवश्य मिल जाएंगे ।

अन्त में श्रीराम ने धनुष को न केवल फुर्ती से भूमि पर से उठा लिया वरन् उसको इस जोर से खींचा कि उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए । तब सब बहुत हर्षित हुए । अपने राजपुरोहित शतानन्द की आज्ञा से सीता जी को सखियां श्रीराम के पास लाईं :—

चतुर सखि लखि कहा बुझाई । पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥

(और एक) चतुर सखी ने उन्हें समझा कर कहा कि सुन्दर जयमाला श्री रामचन्द्र जी को पहिना दो (उनके गले में डाल दो) ।

सुनत जुगल कर माल उठाई । प्रेम बिबस पहिराई न जाई ॥

२६३, ३.

यह सुन कर सीता जी ने दोनों हाथों से (पहिराने के लिये) जयमाला ऊपर उठाई किन्तु प्रेम (लज्जा) के मारे (उन के हाथ कांपने लगे) वह उन से पहिनाई नहीं जाती ।

सोहत जनु जुग जलज सनाला । ससिहि सभीत देत जयमाला ॥

२६३, ४.

सीता जी के दोनों हाथ ऐसे शोभा दे रहे थे मानों ढंडी समेत

(सनाला) दोनों (जुग) कमल (जलज) डरते-डरते (सभीत) चन्द्रमा (श्रीराम के मुख) को जयमाला दे रहे हों—(कमलों का चन्द्र के साथ सहज वैर है—चन्द्रमा के उदय होते ही कमल मुंद जाते हैं) ।

टीका :—नववधू की स्वाभाविक लजा का कैसा मनोहर वर्णन है ।

सोहति सीय राम कै जोरी । छबि शृङ्गार मनहुँ एक ठोरी ॥

सीता जी तथा राम की (पास-पास खड़े) वह जोड़ी कितनी सुन्दर लगती है जैसे एक स्थान (ठोरी=ठौर) पर (छबि) (आभा ज्योति=श्रीराम) और शृङ्गार (सीता जी) (साक्षात्) इकट्ठे हो गए हों ।

सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता । करत न चरन परस अतिभीता ॥

सखिया सीता जी से कहती हैं कि अपने स्वामी के चरण लुग्रो (गहु), किन्तु सीता जी श्रीराम के चरण नदी छूती (परस) क्योंकि उन्हें बहुत भय लग रहा है ।

वह भय इस कारण है :—

गौतम-तिय-गति सुरति करि नहिं परमति पग पानि ।

मन विहंसे रघु-बंस-मनि प्रीति अलौकिक जानि ॥

२६५॥

सीता जी को गौतम ऋषि की स्त्री (तिय) की गति का ध्यान आ गया (सुरति) (कि वह श्रीराम के चरण कमलों के छूते ही पत्थर की शिला से एक सुन्दर स्त्री में परिवर्तित हो गई थी) इस लिये वह अपने हाथों (पानि) से श्रीराम के चरणों (पग) को नहीं छूती (परसति) रघुवंश के शिरोमणि (श्रीराम) सीता जी की इस अपूर्व प्रीति को देख कर मन ही मन में हैंसे ।

टीका :—बात यह थी कि उस समय सीता जी भूषणों से अलंकृत थीं । हाथों में जो गहने पहिने हुए थीं उन में बहुत से हीरे रत्न आदि

जड़े हुए थे। यह हीरे पन्ने आदि भी तो पत्थर ही हैं। सीता जी सोच रही हैं कि यदि मैं ने श्रीराम के चरणों को हाथ से छू दिया तो यह सब पत्थर भी सुन्दर नारियां बन जावेंगी और इस प्रकार मेरी बहुत सी सौकनें पैदा हो जाएँगी। सीता जी स्वप्न में भी यह नहीं सोच सकतीं कि श्रीराम किसी अन्य स्त्री को कभी पत्नी रूप में ग्रहण करेंगे। इसका उस को पूर्ण विश्वास है किन्तु इस समय उसका मन अपनी मनोकामना पूरी हो जाने के कारण उल्लास से भरा हुआ था, अत एव उसने मन ही मन में अपने भावी पति से यह कह कर मीठी चुटकी ली कि “मैं आपको खूब पहिचानती हूँ, आप मुझे अपने चरणों को छुआ कर बहुत सी सुन्दर नारियों का निर्माण करके मुझे तंग करना चाहते हैं—मैं तुम्हारे धोखे में नहीं आती”। इस प्रकार सीता जी जहां श्रीराम की अद्भुत शक्तियों पर अपनी असीम श्रद्धा का परिचय देती हैं, वहां भारतरमणी की स्वाभाविक लज्जा को भी विचित्र ढंग से प्रदर्शित करती हैं। श्रीराम सीता जी के इस स्वाभाविक संकोच और परम श्रद्धा के भाव को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और मन ही मन में हँसने लगे।

## ६. परशुराम

[ “परशु” शब्द का अर्थ है कुल्हाड़ा अथवा गंडासा । श्रीराम ने परशुराम जी के क्रोध को जो शान्त करने के लिये तर्क दिए, उन में से एक यह भी था कि मैं तो केवल ज़रा सी एक वस्तु “राम” हूँ अर्थात् केवल ज्ञानयोगी किन्तु आप मुझ से बहुत बड़े हो, क्योंकि आप के नाम में “राम” से पूर्व “परशु” भी जुड़ा हुआ है—अर्थात् आप में दोनों परशु (कर्मयोगी) और राम (ज्ञानयोगी) के होने का समावेश है । श्रीराम महात्मा गांधी के आदर्श सत्याग्रही के समान अत्यन्त नम्र तथा शान्त हैं । वे शीघ्र भड़क नहीं उठते, अपनी शूरवीरता और पराक्रम की डींगें नहीं भारते, किन्तु अन्त में जब परशुराम जी उन्हें संग्राम करने का आह्वान करते हैं तो वह इसे सहर्ष स्वीकार करते हैं । श्रीराम हज़रत ईसा मसीह के इस नियम को नहीं मानते कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम अपना दूसरा गाल उसके आगे कर दो । उन का सिद्धान्त यह है कि यदि कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उस को प्रेमपूर्वक समझाओ कि तुम ने यह कर्म अनुचित किया है—अस्तु ! इस की तो मैं तुम्हें क्षमा देता हूँ, किन्तु यदि तुम फिर ऐसा करोगे तो मैं इस का तुम्हें उचित दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ूंगा । दुष्टों को दुष्टता का दण्ड देना प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म है । श्रीराम का कहना यह है कि हे मुनिराज ! आप ने लक्ष्मण का एक दोष तो देख लिया किन्तु ज़रा अपने भीतर तो देखो कि आप में इस से अधिक कितने दोष हैं । आप ने ब्राह्मण हो कर यह क्षत्रिय का वेप क्यों धारण किया हुआ है ? क्या यह छल नहीं है ? इस के अतिरिक्त ब्राह्मण का काम है वेदों का पढ़ना, पढ़ाना और ईश्वरोपासना में मग्न रहना, न कि क्षत्रियों की वृत्ति धारण करके धनुष तोड़ते फिरना । ‘श्रेयान् स्वधर्म्मो

विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्'—गीता अध्याय १८ श्लोक ४७. अर्थात् अच्छी प्रकार से आचरण किया हुआ अपना धर्म (कर्तव्य-वृत्ति) विगुण (गुण-हीन) होने पर भी पराये गुणयुक्त धर्म से श्रेष्ठ है। यह कार्य (धनुषों का तोड़ना) क्षत्रियों के लिये छोड़ दीजियेगा। यह आप को शोभा नहीं देता। श्रीराम ने एक दत्त और बुद्धिमान् वकील की भांति जहां और बहुत से पुष्ट तर्क दिए वहां उन में से एक प्रबल तर्क यह भी है कि जो कार्य या कर्म अच्छा है वह सब के लिये अच्छा है, चाहे उसे मैं करूं या आप करें अथवा कोई और व्यक्ति करे। फिर यह क्या हास्यास्पद है कि आप आए दिन इतने धनुष लगातार तोड़ते रहते हो तो यह ठीक है किन्तु यदि मैं ने भी एक तोड़ दिया तो अनुचित और कुकर्म हो गया जिस पर आप को इतना क्रोध आ रहा है। आप मेरे स्वामी हो और मैं आप का सेवक हूँ। सेवक ने वही काम किया है जो अब तक उसके स्वामी स्वयं बराबर करते चले आए हैं। अत एव मैं ने धनुष तोड़ कर बुरा काम नहीं किया। ]

सीता जी के स्वयम्बर की समाप्ति पर अकस्मात् वहां श्री परशुराम जी भी आ निकले और उन्होंने अपने गुरु शिव जी का धनुष टूटा हुआ देख कर क्रुद्ध हो महाराज जनक से उच्च स्वर में पूछा—“मेरे गुरु का यह अपमान किस ने किया है? मेरे गुरु का धनुष तोड़ने वाला कौन है? मैं उस को इस धृष्टता का मज़ा अभी चखाता हूँ।” उनकी इस गर्जना को सुन कर सब उपस्थित नर-नारियों के कलेजे कांप गए और अन्तःपुर की रानियां तथा सीता जी भी अत्यन्त भयभीत हो गईं। श्रीराम ने यह भांप कर उन को सान्त्वना देने के हेतु महाराज जनक से पूर्व स्वयं ही उत्तर दिया कि—

नाथ संभु-धनु-भंजनि हारा। होहि कोउ एक दास तुम्हारा।

हे नाथ ! शिवजी के धनुष को तोड़ने वाला और कौन हो सकता है (यह कार्य करने वाला केवल) आप ही का कोई दास (सेवक) होगा ।

परशुराम जी को यह सुन कर और भी रोष आ गया और बोले—धिकार है ऐसे सेवक को । सेवक का क्या यह काम होता है :—

सेवक सो जो करे सेवकाई । अरि करनी करि करिय लराई ॥  
२७०, २.

सेवक वह है जो सेवकाई करे, न कि वह, जो शत्रुता (अरि) करे और लड़ाई (लराई) करने की ठाने ।

टीका :—श्री परशुराम का तात्पर्य यह है कि सेवक तो वह होता है जो सब काम अपने स्वामी के हित में करे—किन्तु जिस व्यक्ति ने मेरे गुरु का धनुष तोड़ा है और इस प्रकार मेरे गुरु का अपमान करके मेरे विरुद्ध काम किया है वह मेरा सेवक कैसे कहला सकता है—वह तो मेरा शत्रु है और मुझ से लड़ना चाहता है ।

यह सुन कर लक्ष्मण जी से न रहा गया, वह मुस्कराने लगे और बोले—

बहु धनुही तोरी लरिकाई । कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाई ॥

हे गोसाई जी ! हमने लड़कपन में बहुत से धनुषों को तोड़ा है, तब तो ऐसा (असि) क्रोध (रिस=रिसाई) कभी नहीं किया ।

एहि धनु पर ममता केहि हेतु । सुनि रिसाइ कह भृगु-कुल-केतु ॥  
२७०, ४.

इसी धनुष पर आपकी इतनी ममता किस कारण से है । यह सुनकर भृगुकुल के पताकास्वरूप (परशुराम जी) क्रुद्ध होकर बोले ।

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न संभार ।

धनुहीं सम त्रिपुरारि-धनु विदित सकल संसार ॥२७१॥

हे (मूर्ख) राजपुत्र ! तेरा काल आ गया है इसी लिये तू सोच कर बात नहीं करता । क्या सारे संसार में जो शिव जी का धनुष प्रसिद्ध है वह इन धुनखियों (छोटे-छोटे धनुष) के समान है ? [त्रिपुर असुर का शत्रु (अरि)=शिव जी] ।

लक्ष्मण जी को यह सुन कर हँसी आ गई—कहने लगे :—

लषन कहा हँसि हमरे जाना । सुनहु देव सब धनुष समाना ॥

लक्ष्मण जी ने हँस कर कहा कि हे महाराज ! हमारी समझ में (हमरे जाना) तो सब धनुष एक समान होते हैं ।

का छति लाभु जून धनु तोरें । देखा राम नये के भोरें ॥

२७१,१.

एक पुराने (जून) धनुष को तोड़ने (तोरें) से क्या अन्धेर पड़ गया (हानि) क्षति (छति) या लाभ हुआ ? वह तो श्रीराम ने इसे धोखे में नया समझ कर (भोरें) इस पर हाथ डाल दिया था ।

छुवत दूट रघुपतिहु न दोसू । मुनि बिनु काज करिय कत रोसू ॥

(यह इतना पुराना और जीर्ण हो गया था कि) श्रीराम के छूते ही यह टूट कर वह जा पड़ा—इस में श्रीराम का कुछ भी दोष नहीं है । इस लिये हे मुनिराज ! आप बिना किसी कारण (काज) के क्यों (कत) क्रोध (रोसू) कर रहे हैं ।

यह सुन कर परशुराम जी और भी जल भुन गये । जितना वह तीव्र बोलते थे, लक्ष्मण जी बराबर उसी प्रकार के कटु वचन उन्हें सुनाते जाते थे । तब श्रीराम ने आंख के इशारे से लक्ष्मण जी को अधिक कुछ कहने से मनाही कर दी और स्वयं परशुराम जी से बोले—  
नाथ करहु बालक पर छोहु । सूध दूधमुख करिय न कोहु ॥

हे नाथ ! इस बालक पर दया (छोहु) कीजिये । यह सीधा (सूध) दुधमुंहा क्या है इस पर क्रोध न कीजिये ।

जौ पै प्रभु-प्रभाउ कछु जाना । तौ कि बराबरी करत अयाना ॥

२७६,१.

यदि यह आप के प्रभाव को थोड़ा सा भी जानता होता तो क्या यह अबोध (अयाना) आप की बराबरी करता ? (अर्थात् इस प्रकार आपके सामने बोलता ?) ।

जो लरिका कछु अचगरि करहीं । गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥

यदि बालक कुछ शरारतें (अचगरि) करते हैं तो उनके माता-पिता और गुरुजन सब उन्हें देख-देख कर खुश हुआ करते हैं ।

करिय कृपा सिसु सेवक जानी । तुम्ह सम-शील धीर मुनि ज्ञानी ॥

२७६,२.

आप इस बालक को अपना सेवक जान कर कृपा करें । आप तो प्रत्येक स्थिति में सदैव (सम) शील स्वभाव रखने वाले हैं, धीर मुनि और ज्ञानी हैं ।

श्रीराम के ऐसे नम्र वचन सुन कर परशुराम जी का क्रोध कुछ शान्त हुआ—किन्तु अपने भाई की यह बातें सुन कर लक्ष्मण जी मुस्कराने लग पड़े थे । यह देख कर परशुराम जी फिर भड़क उठे । श्रीराम ने लक्ष्मण जी को आंखों से ढांटा और परशुराम जी से कहने लगे :—

बरै बालक एक सुभाऊ । इन्हि न संत विदूषहिं काऊ ॥

भिड़ और बालक का एक जैसा स्वभाव होता है—इन्हें कोई भला पुरुष दोष नहीं दिया करता ।

टीका :—एक स्वभाव यूँ है कि भिड़ को छेद दो तो वह काट खाती है, इसी प्रकार यदि बालक को छेद दो तो वह भी तंग करना प्रारम्भ कर देता है ।

तेहि नाही कछु काज बिगारा । अपराधी मैं नाथ तुम्हारा ॥

२७८, २.

उस (लक्ष्मण) ने तो आप का कोई काम नहीं बिगाड़ा । हे नाथ !  
आप का अपराधी तो मैं हूँ ।

कृपा कोपु बधु बंधव गोसाईं । मो पर करिय दास की नाई ॥

२७८, ३.

हे गोसाईं । आप भुक्त पर कृपा करें मुझे जान से मार डालें (बधु)  
अथवा कैद कर दें (बंधव) किन्तु (जो कुछ भी करें) यह समझ कर करें  
कि मैं आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं ।

टीका :—श्रीराम ने कैसे सुन्दर वचन कहे हैं कि मेरे हितकारी  
बन कर (जैसे माता-पिता तथा गुरु अपने बालक को दण्ड देते हैं या  
प्यार करते हैं) जैसा मन में आये मेरे साथ बर्ताव करें किन्तु शत्रु का  
भाव मन में रख कर मुझे कुछ मत दण्ड दीजिये—यह मैं सहन न  
करूँगा ।

श्रीराम के मधुर वचन सुन कर परशुराम कुछ ठंडे हुए किन्तु  
उन्होंने मुख फेर कर देखा लक्ष्मण उन्हें टेढ़ी दृष्टि से देख रहा है और  
मुस्करा भी रहा है । वह इसे सहन न कर सके और कड़क कर श्रीराम  
से बोले कि तू बड़ा चालबाज़ प्रतीत होता है, स्वयं तो मीठे वाक्यों  
से मुझे सन्तुष्ट करता है उधर लक्ष्मण अपनी क्रूरता से नहीं टलता  
और कटु वचन कहे जाता है—वह यह सब कुछ तुम्हारे प्रोत्साहन देने  
पर और अनुमति से कर रहा है । अत एव मैं तुम्ह से लड़ूँगा । तू मुझ  
से संग्राम कर और अपना यह धर्मोपदेश बन्द कर । श्रीराम मन ही मन  
में मुस्कराये कि यह खूब रही, अपराध तो लक्ष्मण करे और उस का  
दण्ड मैं भुगतूँ—

गुनह लषन कर हम पर रोषू । कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू ॥

करतूत (गुनह=गुनाह) तो लक्ष्मण करें और क्रोध हम पर निकाल रहे हो—(यह खूब है) किन्तु यह सत्य है कि कहीं-कहीं (कतहुँ) बहुत सीधा (सरल, भोला) होना भी बड़ा भारी दोष होता है ।

टेढ़ जानि सब बन्दइ काहू । बक्र चन्द्रमहि प्रसइ न राहू ॥

२८०, ३.

(दूज के चांद को) टेढ़ा जान कर सभी नमस्कार करते हैं, (देख लो) टेढ़े (बक्र) चन्द्रमा को राहू भी नहीं प्रसता ।

टीका :—कृष्ण पक्ष के पश्चात् प्रतिपदा का चाँद बहुत कम दीखता है—अत एव दूज के चन्द्रमा को देख कर सब खुशी मनाते हैं कि अब शुक्ल पक्ष आरम्भ हो गया और रातें चांदनी होंगी । चन्द्रमा को ग्रहण सदा पूर्णमासी को लगता है ।

और श्रीराम प्रकट में बोले :—

प्रभुहि सेवकहि समर कस तजहु विप्रवर रोसु ।

वेष विलोकि कहेसि कछु बालक हू नहि दोसु ॥२८१॥

हे महाराज (विप्रवर) ! स्वामी और सेवक के बीच लड़ाई कैसी ? (अर्थात् आप स्वामी, मैं आपका सेवक) अत एव क्रोध (रोसु=रोष) त्यग दीजिये । (वास्तव में बात यह है कि) आप का (क्षत्रिय का) वेष देख कर (और आप को क्षत्रिय समझ कर) यह बालक कुछ कह बैठा है । इस लिये इस का कोई अपराध नहीं है ।

देखि कुठार-बान-धनु-धारी । भइ लरिकहि रिस ब्रीक विचारी ॥

आप को कुल्हाड़ा (कुठार) बाण और धनुष धारण किये हुए देखकर उस ने कोई बोर (क्षत्रिय याददा) समझा और इस लिये उस बालक (लरिकहि) को क्रोध (रिस=रोष) आ गया ।

टीका:—श्रीराम ने गुप्त रूप से परशुराम जी के संत्राप्त करने के आह्वान पर कैसा सुन्दर व्यंग्य किया है।

नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा । बंस सुभाव उतर तेइ दीन्हा ॥

२८१,१.

आप का नाम तो इस ने जान लिया था किन्तु पहिचाना नहा, इस लिये अपने (क्षत्रिय) वंश के स्वभावानुसार वह आपके सामने इस प्रकार बोला (आप को उत्तर दिये)।

टीका:—श्रीराम का यह दूसरा व्यंग्य है कि ब्राह्मण होकर यह क्षत्रिय वेप आप ने क्यों धारण किया है। एक मन्त्र क्षत्रिय इस छत्र-कपट को कैसे सहन कर सकता है?

जौ तुम्ह अवतहु मुनि की नाइ । पदरज सिर भिसु धरत गोमाई ।

यदि आप मुनि (ब्राह्मण) के वेप में ही पदारजें तो, हे गोमाई नी ! यह बालक (सिसु) अवश्य आपके चरणकमल की धूल (रज) को अपने सिर पर रखता।

छमहु चूक अनजानत केरी । चाहिय विप्र उर कृपा घनेरी ॥

२८१,२.

इस लिये अनजाने में जो बालक से यह अपगध हुआ है हमें आप क्षमा (छमहु) कर दें, क्योंकि ब्राह्मण (विप्र) के हृदय (उर) में बहुत दया होनी चाहिये।

हमहि तुम्हहि सरवरि कसि नाथा । कहहु न कहँ चरन कहँ माथा ।

हे नाथ ! हमारी तुम्हारी बराबरी कैसे हो सकती है (हम आपको बराबरी कैसे कर सकते हैं) (भला) कहिये (कहहु) तो, कहा चरन (सेवक=हम) और कहां भक्तक (स्वामी=आप)।

राम मात्र लघु नाम हमारा । परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥

२८१,३.

हमारा तो छोटा सा केवल "राम" नाम है और आप का नाम बहुत बड़ा है, क्योंकि इस में "राम" के साथ "परशु" (परसु) भी जुड़ा हुआ है ।

टीका :—अर्थात् मैं तो केवल ज्ञानयोग का उपासक हूँ और आप न केवल ज्ञानयोगी हो वरन् साथ में कर्मयोगी भी ।

देव एक गुण धनुष हमारे । नव गुण परम पुनीत तुम्हारे ॥

२८/४.

हे देव, हम में केवल एक ही गुण धनुष चलाने का है, किन्तु आप परम पवित्र नी गुणों से संयुक्त हो ।

टीका :—“गुण” शब्द के तीन अर्थ हैं—१. सूत्र अर्थात् (धनुष का) डोरा—मेरे पास धनुष है जिस में केवल एक डोरा है किन्तु ब्राह्मण होने के कारण आपने नी सूत्र का यज्ञोपवीत धारण किया हुआ है, अर्थात् त्रिविध होने के कारण मुझे केवल धनुष-बाण चलाना और सवाम करना आता है और आप ब्राह्मण हो जिस के हतारें धर्मशास्त्रों में नी गुण लिखे हैं—शम, दम, तप, शौच, अजुता, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता । २. गुण=अर्थात् सद्गुण—आप में यह नी गुण हैं शम, दम आदि । ३. गुण=गुणा करना, जैसे दो को चार में गुणा किया तो आठ हुए । श्रीराम प्रच्छन्नरूप से संकेत करते हैं, कि चाहें आप में बहुत पवित्र ब्राह्मण के नी गुण हैं, किन्तु मेरा धनुष (आचरण) केवल एक ऐसा ईश्वरीय (देव) गुण है जिस में से ही आप के इन सर्व नी गुणों की उत्पत्ति हुई है । इस लिये आप धोखे में न रहिये (किन्तु प्रकट रूप में उन्हें बड़ा भी जतना दिया है) । प्रकट में नी का आँकड़ा एक के आँकड़े से बहुत बड़ा है, किन्तु ध्यान में देखिये तो एक का आँकड़ा नी के आँकड़े से बहुत बड़ा है, क्योंकि यदि एक (१) का आँकड़ा न हो तो नी (१) कैसे बन सकता है ? १ के आँकड़े को नी बार संकलित (जमा) करने से ही नी का आँकड़ा बन पाता है । इस लिये आप भी मुझ (राम) में अस्तर्गत हो । इसके अतिरिक्त नी के

आंकड़े को किसी अन्य आंकड़े से गुणा करो तो उन आंकड़ों का जो (जमा) केवल ६ ही हर स्थिति में आयेगा, अर्थात् एक (१) ही निष्क (उत्तर) निकलेगा—जैसे  $६ \times २ \times १८$ , आठ और एक नौ।  $६ \times ३ = २७$  सात और दो—नौ आदि-आदि। अभिप्राय यह है कि इस कारण १ अर्थात् “राम” आप नौ गुणों वाले (परशुराम) से वास्तव में बड़ा है।

परशुराम जी बार बार विप्र (ब्राह्मण) के नाम से सम्बोधित किये जाने पर कुछ चिड़ से गये थे कि क्या यह मुझे कोई दरिद्र ब्राह्मण समझता है? उन्होंने श्रीराम में कहा कि तू मुझ से संग्राम कर। मैं ब्राह्मण तो हूँ किन्तु क्षत्रियों की सी शूरीरता रखता हूँ। तब राम ने उत्तर दिया कि यदि यह शौक है तो इस को भी पूरा करके देख लो क्योंकि:—

क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना । कुलकलंक तेहिं पांवर जाना ॥

जिस ने क्षत्रिय कुल में जन्म लिया हो और वह लड़ाई (संग्राम=समर) करने से डरे (सकाना) तो उसे कुलकलंकी और महानीच (पांवर) समझना चाहिये।

कहत सुभाव न कुलहि प्रसंसी । कालहु डरहि न रन रघुवंसी ॥

२८३, २.

(फिर मैं तो क्षत्रियों के भी बहुत भ्रेष्ठ रघुवंश से हूँ) मैं अपने कुल की बड़ाई करने के हेतु से नहीं वैसे ही रघुवंशी पुरुषों का स्वभाव बतलाता हूँ कि वह काल से भी संग्राम करने से कभी नहीं डरते।

विप्रर्षस कै असि प्रभुताई । अभय होइ जो तुम्हहि डराई ॥

(इस के अतिरिक्त) ब्राह्मणों (विप्र=भ्रेष्ठ पुरुषों) का (क्षत्रियों को) यह (एक विशेष) आशीर्वाद मिला हुआ है (और उस का यह प्रभाव

है) कि यदि वे किसी अच्छे प्रयोजन के हेतु अपने शस्त्र उठाकर संग्राम करेंगे तो उन्हें कोई नहीं मार सकता और वे अभय हो जाते हैं।

टीका:— श्रीराम कहते हैं कि आप ब्राह्मण हो और आप ही का हम क्षत्रियों को यह वर दिया हुआ है फिर आप मुझ से संग्राम करके कैसे जीत सकोगे, क्योंकि मैं अकारण तो आप से लड़ाई मोल ले नहीं रहा। अपनी रक्षा के लिये लड़ना सर्वथा उपयुक्त प्रयोजन है, अतः अब आप श्रेष्ठ ब्राह्मणों के आशीर्वाद से आप संग्राम करके मुझे हरा न सकेंगे। “जो तुम्हें हराई” वाक्य का अर्थ है जो ब्राह्मणों के (धर्मशास्त्रों में बताये हुए) दिखाये हुए मार्ग पर चलता है (नियमों का पालन करता है) और डरता है कि यदि उनका उल्लंघन किया या उनके विरुद्ध आचरण किया, तो उस की बहुत दुर्गति तथा अवनति होगी)।  
सुनि मृदु वचन गूढ रघुर्पात के। उधरे पटल परसु-धर-मति के॥

२८३, ३.

श्रीराम के ऐसे मठे और मर्मवृर्ण (गूढ) वचन सुन कर पशुराम जी की (संग्राम करने की) धारणा की हुई बुद्धि (परसु-धर-मति) के परदे (पटल) खुल गए। अर्थात् अब वह समझ गए कि उनके गुरु शिवजी का धनुष तोड़ने वाला कौन महापुरुष है?



## ७. सौत का दंश

[श्री बाल्मीकि और गोस्वामी तुलसी दास जी दोनों ने ही महाराज दशरथ को “जितेन्द्रिय” चित्रित किया है और उन के चरित्र को “आकाश इव निःपङ्कजः” अर्थात् आकाश के समान निर्मल बताया है। अतएव हम यह कदापि स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि उन्होंने ने काम के आवेश में वैकेयी के रूप और लावण्य पर आसक्त होकर उसका पाणि-ग्रहण किया था। महारानी कौशल्या निःसन्तान थीं इस लिये अपनी वंश की रक्षा के हेतु उन्होंने ने यह दूसरा विवाह किया था। ऐसा करना उस समय की राजपद्धति के सर्वथा अनुकूल था। पुत्र पाने की इच्छा उनके हृदय में कितनी प्रबल थी उस का प्रमाण इसी एक बात से प्रकट होता है कि उन्होंने ने वैकेयी से विवाह करते समय उस के पिता महाराज अश्वपति से यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि वैकेयी से पुत्र उत्पन्न होगा तो वह राज्य पाने का अधिकारी होगा। किन्तु इस का अर्थ केवल इतना ही था कि यदि महारानी कौशल्या की कोख से कोई पुत्र न हुआ तो उस स्थिति में ही वैकेयी के पुत्र को राजगद्दी पाने का पूर्ण अधिकार होगा। इस प्रतिज्ञा की आवश्यकता इस लिये थी क्योंकि इक्ष्वाकुवंश की रीति के अनुसार केवल पटरानी की सन्तान ही राजसिंहासन पाने की अधिकारिणी होती थी। वैकेयी को स्वयं इस प्रतिज्ञा का कुछ पता न था, तो भी महाराज दशरथ के हृदय में राज्याभिषेक करने के समय इस प्रतिज्ञा का इतना भारी भय था कि उन्होंने ने भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में ही राम को तिलक देने में अपनी भलाई समझी और इसी आशंका से उन्होंने ऐसे शुभादसर पर अपने समधी महाराज जनक और अपने स्वसुर महाराज अश्वपति तक को भी निमंत्रित नहीं किया। किन्तु श्रीराम को इस प्रतिज्ञा का पता था जैसा कि बाल्मीकि रामायण

में अयोध्या काण्ड के १०७वें सर्ग में श्रीराम के भरत को यह कहने से विदित होता है कि “जातः पुत्रो दशरथात् वैकेयां राजसत्तमात्—” आदि-आदि । अर्थात् पिता जी ने तुम्हारे नाना से यह प्रतिज्ञा की थी कि “वह वैकेयी से उ पन्न हुए पुत्र को राज्य प्रदान करेंगे” ।

वैकेयी श्रीराम को अपने पुत्र भरत के समान चाहती थी तभी तो उस ने मन्थरा से कहा था कि यदि राम को राज मिला तो भी समझो कि भरत को ही मिला । किन्तु जब मन्थरा ने सौतिया-ढाह का भीषण बाण चलाया और कहा कि “यह सब तुम्हारा सौत कौशल्या की बाल-बाजी है, महाराज तुम्हें उस से अधिक प्यार करते हैं, यह वह सहन नहीं कर सकती झुपेलिये उस ने यह पदबंध रचा है कि भविष्य में तू उस की दासी बन कर रहे, क्या तू अपना शेष जीवन सब अपनी सौत की दास बनकर बितावेगी ?” यह तीर वैकेयी के कलेजे को छननी का गया । यह घाव इतना गहरा था कि वह अपने पति को भी यह प्रकट करने से अपने आप को मरणा न कर सकी कि मैं अपनी सौत (कौशल्या) को खूब पहिचान गई हूँ । आप यह सब कुछ केरन उम के ही सीखे सिखाए कर रहे हो । मैं जानती हूँ, वह मेरी कितनी हितैषिणी है, मैं भी उस को हम का फल देकर ही छोड़ूंगी ।

कौशल्या को जो उम ने भीषण फल दिया सो दिया किन्तु उस को स्वयं भी कुछ कर दण्ड नहीं मिला । महाराज दशरथ की वह सब से प्यारी रानी थी किन्तु उस के हुए महा नीच व्यवहार ने उन के मन को भी जो सदा सागर के समान गर्भीर और शान्त रहने वाला था इतनी गहरी पीड़ा और व्यथा पहुँचाई कि उन्होंने ने वारम्बार रामायण में लिखा है कि— वैकेयी को अपनी धर्मपत्नी के पद से भी एतुत कर दिया । एक विवाहिता स्त्री के लिये हम से बड़ा दण्ड और कोई नहीं । इस के अतिरिक्त इस दुर्घटना के सात दिन पश्चात् कौशल्या के साथ वह

भी विधवा हो गई । जो दूसरे के मार्ग में कटि बोता है वह स्वयं कभी सुखी नहीं रह सकता ।

इस प्रकरण को पढ़ने के पश्चात् हम अनायास ही इस निकर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी पत्नी के जीवन काल में केवल पुत्र की इच्छा से और वंश की वृद्धि के लिये भी मनुष्य को कदापि दूसरा विवाह नहीं करना चाहिये ।]

मन्थरा नगर में गल्याभिषेक की दैव्याग्नियां देख कर आई और कैकेयी के पास आकर बहने लगी :—

पूतु विदेसन सोचु तुन्दारें । जाति हहु बस नाहु हमारें ॥

तुम्हारा पुत्र परदेश में है, किन्तु तुम्हें इस की तनिका भी सोच नहीं क्योंकि तुम्हें यह अर्धाविश्वास है कि पत (नाहु) हमारे वंश में हैं (इस लिये मेरा कोई कुल नहीं बिगाड़ सकता) ।

नाद बहुत प्रिय सेज तुराई । लग्यहु न भूप कपट चतुराई ॥

अयो. १३, ३.

तुम्हें तोपक तकिये से सजि (तुराई) सेज और नाद बहुत प्यागी है (तू मोई पड़ी है) और तू राजा (भूप) के कपट और छल को नहीं देखती (समझती) ।

यह सुन कर कैकेयी मुस्कराने लगी और बोली:—

जेठ स्वामी सेवक लघु भाई । यह दिनकर-कुल रीति सुहाई ॥

(मूर्ख ! तू नहीं जानती कि) हमारे सूर्यवंश (दिनकर कुल) की यही शुभ रीति है कि बड़ा भाई सदैव स्वामी और छोटा भाई सेवक होता है ।

राम तिलकु जौ साचेहु काली । देउ मांगु मन भावत आली ॥

अयो. १४, २.

जो सचमुच (सच्चेहु) ही बल (काली) रामचन्द्र को तिलक लगेगा तो हे सखी (आली) ! जो तेरी इच्छा हो मुझ में माग लेना, मैं दूँगी ।

कौमल्या नम सब महतारी । रामहि सहज सुभाय पियारी ॥

रामचन्द्र का तो जन्म में ही ऐसा स्वभाव रहा है कि वह हम सब माताओं को अपनी माता (कौशल्या) के बराबर प्यार करते हैं ।

मो पर कहहि सनेहु त्रिसेपी । मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥

अयो. १४,३.

(और) मुझ पर तो विशेष कर वह अधिक प्यार करते हैं, मैंने उन के स्नेह की कई बार परीक्षा (परीछ) करके देख ली है ।

जौ विधि जनमु देख करि छोहु । हाँहि राम मिय पूनपुोहु ॥

यदि विधाता कृपा बरके (छोहु) फिर एक बार मुझे जन्म दें, तो (मैं) भगवन से यही वर मागती हूँ कि) रामचन्द्र जी मेरे पुत्र और सीता मेरी पुत्रवधू हों ।

प्राप्त तैं अधिक रामु प्रिय मोरे । तिन्ह के तिलक छोभु कम तोरे ॥

अयो. १४,४.

रामचन्द्र जी मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं और उन्हीं का तिलक होना मुझे खटक=चुभ (छोभ=चोभ दे) रहा है ।

यह सुन कर मन्थरा बोली—रानी ! तू ने मुझे ठीक नहीं समझा । मैं ने केवल तेरे हित के लिये यह बात कही है । आज तुम अपने ऊपर महाराज दशरथ, रामचन्द्र तथा सीता के प्रेम और स्नेह में भूली फिरती हो किन्तु दिन फिरते देर नहीं लगती:—

निय सिय रामु कहा तुम रानी । रामहि तुन्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥

हे रानी ! तुम ने जो यह कहा कि तुम्हें सीता और रामचन्द्र जी प्यारे हैं और रामचन्द्र जी को तुम यही प्यारी हो सो यह बात (वाणी=वाक्य) सत्य (फुरि) है ।

रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समय पारे रिपु होहि पिगते ॥

अयो. १६, ३

(किन्तु) यह बात अब तक तो सत्य थी—अब वह दिन बीत गए । जब समय उलटता है तो मित्र (पिरीते) भी शत्रु (रिपु) हो जाते हैं ।

भानु कमल-कुल-पोपनि हाग । बिनु जर जारि करइ सोइ छारा ।

(देख रानी ! ) वैसे तो सूर्य कमलों के समूह को पालने और बढ़ा करने वाला होता है किन्तु बिना जल (जर) के वही उल्टे जला कर (जारि) भस्म (छारा) कर देता है । “जर” का अर्थ जल भी किया गया है ।

टीका :—अर्थात् जब जल में उस की जड़ कहीं लगी न हो तो वही सूर्य उस को समाप्त कर देता है—(सूर्य के उदय होने से कमल खिलते हैं ।)

जरि तुम्हारि चह सवति उखारी । रंधहु करि उपाउ बग्यारी ॥

अयो. १६, ४,

(वैसे ही) तुम्हारी जड़ तुम्हारी सौत (सवति) चौशल्या उखाड़ना चाहती है । अपनी बाटिका (बारी) की अच्छी प्रकार से (बर) उपय करके रक्षा कर लो (उजड़ने से बचा लो) । रंधहु का अर्थ है रंधो, अर्थात् काटे आदि की बाढ़ लगा कर अपनी बाटिका को बाहिर के आक्रमण से बचाओ । इस चौगाई का दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि तुम्हारी सौत जो तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहता है उस को उपाय रूपी जल श्रेष्ठ (बर बारी) से रोको (रंधहु) ।

तुम्हि न सोचु सोहाग बल निज बस जान्हू राउ ।

मन मलीन मुहु मोठ नृपु राउर सरल सुभाउ ॥

अयो. १७.

तुम अपने सोहाग के बल-बोले पर यह समझी बैठी हो कि राजा

मेरे बश मे है इस लिये तुम गत्ती भग भी सोच (चिन्ता) नहीं कर रही हो । (परन्तु तू नहीं जानती कि) महाराज दशरथ मुँह के बड़े मीठे और मन के बड़े चाले हैं और तू गनी (राखर) बड़ी भोली है ।

चतुर गम्भीर राम महतारी । बीचु पाइ निज बात संवारी ॥

रामचन्द्र की माता (बड़ी) गम्भीर और चतुर है । उसने (चुपके-चुपके बिना किसी को बताए) अवसर पाकर (बीचु पाइ) अपना काम निकाल लिया (बात संवारी) ।

पठये भरत भूप ननिअउरे । राम-मातु मत जानय रउरे ।

अयो. १७, १.

हे रानी (राखर) ! तू यह ठीक मान ले कि महाराज (भूप) ने जो तेरे पुत्र भरत को इस समय ननिदाल (ननिअउरे) भेजा हुआ है (पठये) यह सब धूर्तता रामचन्द्र की माता की है (उसकी सलाह से ही हुआ है) । सेवहिं सकल सवति मोहि नीके । गरबित भरतमातु बल पोके ॥

(कौशल्या जानती है कि और सब सीतें (सवति) मेरी अच्छी प्रकार से (नीके) सेवा करती हैं एक यही भरत की माता (बकी) है जिस को अपने पति के सब से अधिक प्रेम होने का घमण्ड (गरबित= गर्व) है ।

सालु तुम्हार कौसलहि माई । कपट चतुर नहिं होइ जनाई ॥

अयो. १७, २.

वस, कौशल्या को एक तुम्हारा ही खटका (सालु) है । चतुर मनुष्य का कपट छुन शीघ्र समझ मे नहीं आता (चतुर मनुष्य की चाल आसानी से समझ मे नहीं आती) ।

राजहि तुम्ह पर प्रेसु विसेपी । सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी ॥

राजा का तुम पर अधिक प्रेम है—सीत का (सवति) स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह इस बात को कदापि सहन नहीं कर सकता ।

रचि प्रपंचु भूपहिं अपनाई । राम-तिलक-हित लगन धराई ॥  
अयो. १७,३.

हम लिये उसने यह जाल बिछा कर और राजा को अपने हाथ में करके (तुम्हें परास्त करने और नीचा दिखाने के लिये) यह रामचन्द्र के तिलक का लगन निकलवाया है ।

भयउ पाख दिन सजत समाजू । तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥  
अयो. १८,२.

(और इस पड़यन्त्र का यही एक प्रबल प्रमाण है कि) पन्द्रह दिन (पाख) हो गए जब से मेरे नगर (समाज) में राज्याभिषेक की बड़ी जोर-शोर से तैयारियां हो रही हैं और तुम केवल आज मेरे पास (सन) यह समाचार सुन पा सकी हो ।

यह सुन कर कैकेयी को विश्वास आ गया कि वास्तव में मन्थरा सत्य कहती है । वह सशम गई और केले के पत्ते की तरह थर-थर कांपने लगी । उसने मन्थरा से कहा कि अब मुझे तेरा विश्वास हो गया है, तू सत्य कहती है किन्तु मैं ने भी यह दृढ़ संकल्प किया हुआ है कि—  
नैहर जनमु भरब बरु जाई । जियत न करब सवति सेवकाई ॥  
अयो. २०,१.

मैं अपने मायके (नैहर) में अपना शेष जीवन (बरु जाई) बिता दूंगी (भरब), किन्तु जीते जी अपनी सौजन्य (सवति) की चाकरी कदापि नहीं करूंगी ।

लखइ न रानि निकट दुःख कैसे । चरइ हरित त्रिन बलि पसु जैसे ॥  
अयो. २१,१.

रानी कैकेयी आने वाली विपदा को ठीक उसी प्रकार नहीं देख रही है जैसे बलि पर शीघ्र ही चढ़ाया जाने वाला पशु (बड़े आनन्द के साथ और निश्चिन्त हो कर) हथ-हथ पाव (हरित त्रिब) खाता है ।

टीका :— विपदा अर्थात् अपने विधवा हो जाने और कलंक लगने का भयानक दुःख ।

मन्थरा ने कैकेयी को अपने दो वर मागने के लिये उत्तेजित किया । कैकेयी कोप-भवन में चली गई और वहां उसने बहुमूल्य वस्त्र-भूषण आदि उतार कर मोटे गवारू कपड़े धारण कर लिये—

कुमतिहि कसि कुबेधता पायी । अन अहिवात् सूच जनु भायी ॥

इस कुबुद्धि वाली (कैकेयी) के शरीर पर यह मोटे भड़े कपड़े ऐसे सोहते (सज रहे=फाँसी) थे मानो उस का भविष्य (भायी) बहुत शीघ्र आने वाली (अत) बुरी (अहि) घटना (वातु=बात—अर्थात् उसके विधवा हो जाने) की सूचना दे रहा हो ।

महाराज दशरथ के बार-बार पूछने पर कैकेयी ने जो दो वर मांगे, उनको सुनकर उनके पाँव के तले की मिट्टी निकल गई—उन का सिर चकराने लगा और उनकी जिह्वा शुष्क हो गई । यह देख कर कैकेयी बोली :—

भरत कि राउर पूत न होही । आनेहुँ मोल बेसाहि कि मोही ॥  
अयो. २६, २.

हे राजन् (राउर) ! क्या भरत तुम्हारा पुत्र नहीं है और क्या आप मुझे जयरदस्ती (कहा से) (बेसाहि) मोल खरीद कर लाए हो ?

महाराज दशरथ ने नाना प्रकार से कैकेयी को समझाने की चेष्टा की और अन्त में वह इस बात पर भी तैयार हो गये थे कि राजगद्दी राम के स्थान पर भरत को दे देंगे किन्तु कैकेयी, रामचन्द्र को वन में भेजने की मांग को छोड़ दे, यह कब मानने वाली थी । महाराज दशरथ ने उस को विश्वास दिलाने के विचार से रामचन्द्र की (जिस को वह अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे और जिसकी किसी स्थिति में वह कभी शपथ न खाते थे) शपथ खाकर कहा :—

राम-सपथ-सत कहउं सुभाऊ । राम मातु वल्लु कहैउ न बाऊ ॥  
अयो. ३१, १.

मैं रामचन्द्र की सौ बार सौगन्द खाकर कहता हूँ कि रामचन्द्र की माता कौशल्या ने इस विषय के बारे में मुझ से आज तक कभी कुछ नहीं कहा ।

कौशल्या का नाम सुनते ही कैकेयी के तन वदन में आग और भी भड़क उठी और उसने बहुत कुपित होकर कहा :—

कहइ कहहु किन कोटि उपाया । इहाँ न लागिहि राउरि माया ।  
देहु कि लेहु अजस करि नाही । माहि न बहुत प्रपंच सुदारी ॥  
अयो. ३२, ३.

तुम चाहे करोड़ (कोटि) यत्न करो, मैं तुम्हारी राजकीय (राउरि) चालें एक भी न चलने दूंगी या तो जो मैंने मागा है उसे दो या (कि) इन्कार करके (ससार में) अपयश (अजस=अपयश) लो, मुझे यह बहुत बहाने और बातें बनाना (प्रपंच) (तानक भी) अच्छा नहीं लगता ।

राम साधु तुम्ह साधु सयाने । राम मातु भलि सब पहिचाने ॥

मैं सब जान गई हूँ कि राम भी अच्छे हैं तुम भी बहुत अच्छे और चतुर हो और रामचन्द्र की माता भी बहुत भली और नेक है (एक मैं ही बुरी और दुष्ट हूँ ! ) ।

(इस का दूसरा अर्थ यह भी है कि संसार में सब ही जानते हैं कि रामचन्द्र आप और राम की माता सभी कितने भद्र हैं । यह कैकेयी ने एक प्रकार से पति पर कटाक्ष किया है कि आप सब भले हैं, एक मैं ही नीच हूँ—क्या यही आप बतलाना चाहते हो ?) ।

जस कौसिला मोर भल ताका । तस फलु उन्हहि देउ करि साका ॥  
अयो. ३२, ४.

जैसा कौशल्या ने मेरा भला चाहा है वैसा ही फल मैं भी उस को देकर रहूँगी, जो चिरकाल तक वह याद किया करेगी ।

होत प्रातु मुनिवेषु धरि, जौ न रामु बन जाहि ।  
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुभिय मन माहिं ॥

अयो. ३३,

यदि प्रातः होते ही रामचंद्र मुनियों का वेष धारण करके वन को न चले गए तो हे राजन् (नृप) ! यह अरने मन में निश्चित समझ लेना कि मैं मर जाऊँगी और तुम्हारा (महाराज का=राउर) का खूब अपयश होगा ।

अस कहि कुटिल भई उठी ठाढ़ी । मानहुं रोप तरंगिनि बाढ़ी ॥

ऐसा कह कर कुटिल होकर (कैकेयी) वहा से उठ खड़ी हुई । मानो क्रोधरूनी नदी (तरंगिनि) में बाढ़ आ गई हो ।

पाप पहाड़ प्रगट भई सोई । भरि क्रोध जल जाइ न जोई ॥

३३, १.

यह नदी पापरूनी पहाड़ से उत्पन्न (सोई) हुई है और वह क्रोधरूनी जल से इतनी भरी हुई है कि देखा नहीं जाता (अर्थात् उसे देख कर भय लगता है) ।

दोउ वर कूल कठिन हठ धारा । भंवर कूयरी-वचन-प्रचारा ॥

दोनों वर उस नदी के किनारे हैं और (कैकेयी) का बठिन हठ उम की धार है और मन्थरा (कूयरी) के वाक्यों का प्रचार उसके अन्दर भवर हैं ।

टीका :—भंवर इस जिये कि उन के प्रभाव से ही कैकेयी की बुद्धि चकर जा रही है ।

ढाहत भूपरूप तरुमूला । बली विपति बारिधि अनुकृपा ॥

अयो. ३३, २.

राम-सपथ-सत कहउँ सुभाऊ । राम मातु वल्लु कहेउ न बाऊ ॥  
अयो. २१, १.

मैं रामचन्द्र की सौ बार सौगन्द खाकर कहता हूँ कि रामचन्द्र की माता कौशल्या ने इस विषय के बारे में मुझ से आज तक कभी कुछ नहीं कहा ।

कौशल्या का नाम सुनते ही कैकेयी के तन वदन में आग और भी भड़क उठी और उसने बहुत कुपित होकर कहा :—

कहह कहहु किन कोटि उपाया । इहाँ न लागिहि राउरि माया ।  
देहु कि लेहु अजस करि नाही । माहि न बहुत प्रपंच सुदाही ॥  
अयो. ३२, ३.

तुम चाहे करोड़ (कोटि) यत्न करो, मैं तुम्हारी राजकीय (राउरि) चालें एक भी न चलने दूंगी या तो जो मैंने मागा है उसे दो या (कि) इन्कार करके (ससार में) अपयश (अजस=अयश) लो, मुझे यह बहुत बहाने और बातें बनाना (प्रपंच) (तानक भी) अच्छा नहीं लगता ।

राम साधु तुम्ह साधु सयाने । राम मातु भलि सब पहिचाने ॥

मैं सब जान गई हूँ कि राम भी अच्छे हैं तुम भी बहुत अच्छे और चतुर हो और रामचन्द्र की माता भी बहुत भली और नेक है (एक मैं ही बुरी और दुष्ट हूँ ! ) ।

(इस का दूसरा अर्थ यह भी है कि संसार में सब ही जानते हैं कि रामचन्द्र आप और राम की माता सभी कितने भद्र हैं । यह कैकेयी ने एक प्रकार से पति पर कटाक्ष किया है कि आप सब भले हैं, एक मैं ही नीच हूँ—क्या यही आप बतलाना चाहते हो ?) ।

जस कौसिला मोर भल ताका । तस फलु उन्हुहि देउ करि साका ॥  
अयो. ३२, ४.

जैसा कौशल्या ने मेरा भला चाहा है वैसा ही फल मैं भी उस को देकर गूँगी, जो चिरकाल तक वह याद किया करेगी ।

होत प्रातु मुनिवेषु धरि, जौं न रामु बन जाहि ।  
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुभिय मन माहिं ॥

अयो. ३३,

यदि प्रातः होते ही रामचंद्र मुनियों का वेष धारण करके वन को न चले गए तो हे राजन् (नृप) ! यह आने मन में निश्चिन्त समझ लेना कि मैं मर जाऊंगी और तुम्हारा (महाराज का=राउर) का खूब अपयश होगा ।

अस कहि कुटिल भई उठी ठाढ़ी । मानहुं रोप तरंगिनि बाढ़ी ॥

ऐसा कह कर कुटिल होकर (कैकेयी) वहा से उठ खड़ी हुई । मानो क्रोधरूपी नदी (तरंगिनि) में बाढ़ आ गई हो ।

पाप पहाड़ प्रगट भई सोई । भरि क्रोध जल जाइ न जोई ॥

३३, १.

यह नदी पापरूपी पहाड़ से उत्पन्न (सोई) हुई है और वह क्रोधरूपी जल से इतनी भरी हुई है कि देखा नहीं जाता (अर्थात् उसे देख कर भय लगता है) ।

दोउ बर कूल कठिन हठ धारा । भंवर कूबरी-वचन-प्रचारा ॥

दोनों वर उस नदी के किनारे हैं और (कैकेयी) का बठिन हठ उम की धार है और मन्थरा (कूबरी) के वाक्यों का प्रचार उसके अन्दर भंवर हैं ।

टीका :—भंवर इस जिये कि उन के प्रभाव से ही कैकेयी की बुद्धि चकर खा रही है ।

ढाहत भूपरूप तरुमूला । बली बिपति बारिधि अनुकूजा ॥

अयो. ३३, २.

वह नदी राजा दशरथरूपी वृक्ष (तरु) की जड़ (मूला) को उखाड़ती हुई महाविपत्तिरूपी समुद्र (वारिधि) की ओर (अनुकूला) बहती जा रही है ।

महाराज के इतने समझाने पर भी जब कैकेयी ने उन की बात नहीं मानी, तो वह समझ गये कि अब कैकेयी को कुछ और कहना सर्वथा व्यर्थ है । तब उन्होंने निराश होकर उससे यह अन्तिम प्रार्थना की कि:—

अब तोहि नीक लाग करु सोई । लोचन ओट बँटु मुहुँ गोई ॥

अयो. ३५, ३.

अब जो तुझे अच्छा (नीक) लगे वही कर, (परन्तु मेरी एक विनती मान ले कि) मेरी आँखों के सामने से दृष्ट कर (लोचन ओट) अपना मुँह छुगा कर (गोई) (कहीं) बैठ ।

जब लगि जिअउ कहउ कर जोरी । तब लगि जनि कछु कहैसि बहोरी ॥

अयो. ३५, ४.

और मैं हाथ जोड़ कर (कर जोरी) तुझ से यह भीख मागता हूँ कि अब से और जितने काल तक मैं जिऊँ, तब तक मुझ से और (बहुरि) कुछ भी मत कहना (जनि) । (अर्थात् मैं अब से न तेरी शकल देखना चाहता हूँ और न तुझ से कोई बात करना चाहता हूँ) ।

महाराज दशरथ के इन वाक्यों में कितनी निराशा और वेदना झिपी हुई है इस का अनुमान नहीं हो सकता । वाल्मीकि रामायण में आता है कि जब आता और स्त्री के संग रथ पर चढ़ कर रामचन्द्र बन को जाने लगे तो अयोध्यावासी उनके आगे और पीछे उचक-उचक कर व्यग्रता प्रकट करते और अभु गिराते हुए उनके रथ के साथ-साथ चलने लगे । इस शोकाकुल जनसमूह के बीच में उन्मत्त की तरह नंगे पैरों महाराज दशरथ दौड़े हुए आये । उनके साथ कौशल्या भी, जिसके

वस्त्रों में भूमि पर लटकने से धूल लग गई थी, रोती चिन्हाती हुई आई । महाराज को उनकी प्रजा इस उन्मत्त अवस्था में देख रही थी । बछड़े के लिये जैसे गाय छूट जाती है वैसे ही राजा और रानी, हा राम ! हा राम ! कहते हुए अश्रुधाराकुन नेत्रों से मार्ग में कंकड़ों के ऊपर होकर चलने लगे । रामचन्द्र को आतिथ्य करने के लिये महाराज दशरथ बार-बार भुजा उठा कर 'रथ रोको' 'रथ रोको' कहने लगे । रामचन्द्र ने सुमन्त्र से कहा "हम इस दृश्य को नहीं देख सकते, तुम इस रथ को शीघ्र ले चलो ।" जब रथ आंखों से ओझल हो गया तो राजा मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े । होश आने पर उन्होंने अपनी दाहिनी ओर कौशल्या को और बाईं ओर कैकेयी का उपस्थित देखा । तब उन्होंने कैकेयी से कहा "हम ने पवित्र अग्नि को साक्षी करके तुम्हारा पाणिग्रहण किया था, आज तुम को परित्याग किया, अब आज से तुम मेरी पत्नी नहीं ।" इसके पश्चात् उन्होंने इच्छा प्रगट की कि उन्हें कौशल्या के राजमहल में पहुँचा दिया जाये । कौशल्या के रनिवास में वह केवल सात दिन और जिये और वह भी इस आशा से कि शायद सुमन्त्र राम को वनवास से वापस लाने में सफल हो जाये । किन्तु छः दिन पश्चात् जब सुमन्त्र सूना रथ लेकर वापस आ गया तो उन्होंने सब आशा छोड़ दी और सातवें दिन प्रातः उनके जीवन का खंड समाप्त हो गया ।

## ८. सौत को प्रत्युत्तर

[रामायण में कौशल्या का चित्र भारत की आदर्श जननी और आदर्श सुपुत्रिणी का चरित्र है। तप और संयम का जीवन व्यतीत करने से एक साधारण व्यक्ति के अन्दर भी जो असाधारण बल और धैर्य उत्पन्न हो जाता है और गृहस्थ में रहते हुए भी वह बड़े से बड़े संकट और घाव की चोट को किस प्रकार हँसते-हँसते सहन करता है इस का परिचय हमें उस आशीर्वाद से मिलता है जो उसने रामचन्द्र को वन जाने के समय दिया। कैकेयी ने समझा था कि वह उस के पुत्र को वनवास और अपने पुत्र भरत को राजतिलक दिलवा कर अपनी सौत को कुचल देगी और उसको विध्वंस करके रख देगी, किन्तु कौशल्या ने उस के भीषण प्रहार की तलवार को एक सच्चे तथा सम्पूर्ण सत्याग्रही की तरह स्थिर बुद्धि के शस्त्र से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। उस ने अपनी आशीष में यह कह कर अपने से इतना द्वेष और शत्रुता का भाव रखने वाली सौत को कितना अधिक सम्मान दिया है कि हे पुत्र ! यदि तुम्हें वन जाने के लिये तुम्हारे पिता के साथ तुम्हारी माता (कैकेयी) ने भी आज्ञा की है तो अवश्य जाओ मैं न रो दूंगी। इस का सादर्य हमें संसार के इतिहास में ठूँड़े से भी नहीं मिलता और इस को देख कर मनुष्य दंग रह जाता है। निःसन्देह कैकेयी ने अपनी सौत को कुचलने और विध्वंस करने का प्रयास करके अपनी चिता तैयार की और कौशल्या को अमर कर दिया।]

रामचन्द्र नितेन्द्रिय थे किन्तु जब वे कैकेयी के मुख से वनवास की आज्ञा पाकर निवास में अपनी माता कौशल्या के पास पहुँचे, तो उन के संयम का बाँध टूट गया और वे कठिनता से अपने आय को संभाल सके। उन के मुख से केवल इतना ही निकला :—

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू । जहँ सब भान्ति मोर बड़ काजू ॥

अयो. ५२, ३.

पिता ने मुझे बन में राज्य करने को कहा है, जहाँ मेरे लिये काम करने को बहुत पड़ा है ।

टीका :— रामचन्द्र यहाँ पर संकेत करते हैं कि उन्होंने बन जा कर राक्षसों का वध कर के ऋषि-मुनियों को सुरक्षित करना है ।

आयसु देहि मुदित मन माता । जेहि मुद मंगल कानन जाता ॥

हे माता ! मुझे प्रसन्न-चित्त से आशीष दो ताकि मेरा बन जाना मंगल-मय हो और मैं अपने कार्य में सफल होऊँ ।

जनि स्नेह बस डरसि भारें । आनन्दु अंघ अनुग्रह तोरें ।

अयो. ५२, ४.

मेरे लिये स्नेह में पड़ कर घबराओ नहीं (और मुझे यह आशीष देने से इनकार न करना), हे माता (अव) ! तेरी कृपा होगी (आशीर्वाद होगा) तो मुझे वहाँ पर भा आनन्द ही आनन्द मिलेगा ।

वरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु वचन प्रमान ।

आइ पाय पुनि देखिहुँ मन जनि करसि मलान ॥

अयो. ५३.

(बस) कुल चौदह वर्ष (चारि दस) के लिये ही तो मुझे पिता जी ने बन में रहने (बिपिन बसि) का आज्ञा दी है । भा यह बात ही क्या है मैं इस अवधि में पिता जी के वचनों (आज्ञा) को पूरा कर के (शोध ही) लौट कर फिर आप के चरणों (पाय) को देखूँगा । इस लिये आप अपना मन भागें (उदास=मलान) मत (जनि) करो ।

यह सुन कर कौशल्या रुहम गई और थर-थर कापने लगी । एक ओर उसे यह निश्चय था कि महाराज दशरथ बिना अपराध के कभी कस्य

नहीं देते और साथ में उस को यह भी पूर्ण विश्वास था कि रामचन्द्र कभी कोई अपराध नहीं करेंगे। इस लिये उस को यह सम्झ में नहीं आया कि महाराज ने रामचन्द्र को क्यों इतना कड़ा दण्ड दिया है। इस कारण उस ने सजल नेत्रों से पूछा कि हे पुत्र ! :—

तात पितहिं तुम प्रान पियारे । देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥  
अयो. ५३,३.

हे पुत्र (तात) ! तुम अपने पिता को प्राणों से भी प्यारे हो और वह सदैव तुम्हारे कार्यों को देख-देख कर प्रमत्त हुआ करते हैं।

राज देन कहूँ सुभ दिन साधा । कहैउ जान बन कहि अपराधा ॥  
अयो. ५३,४.

उन्होंने ने तुम्हें राजतिलक देने के लिये यह शुभ दिन सिधाया था। सो मुझ से कहो कि अब तुम से कौन (कहि) ऐसा अपराध हुआ है, जो उन्होंने ने तुम्हें यह वन जाने का दण्ड दिया है (कहा है)।

अपनी माता के प्रति असीम स्नेह के कारण रामचन्द्र से इस का कुछ उत्तर न दिया गया। उन्होंने ने, उनके साथ जो मंत्री का पुत्र रनिवास में गया था उस को संकेत किया और उस ने सारी घटना कह सुनाई। उसे सुन कर कौशल्या हत-बुद्धि सी हो गई उस के मनस्ताप का कोई ठिकाना नहीं रहा और उस की दशा वर्णन नहीं की जा सकती।

राखि न सकइ न कहि सक जाहू । दुहूँ भांति उर दारुन दाहू ॥

(कौशल्या) न तो रामचन्द्र को रहने के लिये कह सकती है न जाने को, उस के मन को दोनों तरह से दारुण कष्ट मिल रहा है।

लिखित सुधाकर गा लिखि राहू । विधि गति बाम सदा सब काहू ।  
अयो. ५४,१.

कौशल्या की बुद्धि धर्म और स्नेह दोनों के बीच घिर गई और उस की अवस्था एक साँप की तरह हो गई जिस ने छुईदर को पकड़ रक्खा हो

(सांग यदि छुड़ंदर को पकड़ कर छोड़ दे तो अन्धा हो जाता है और यदि खा जाए तो कोढ़ी हो जाता है । ऐसी लोक-कथा प्रचलित है) ।

राखउं सुतहि करउं अनुरोधू । धरम जाइ अरु बंधु विरोधू ॥

अयो. ५४, २.

यदि जोग दू तो पुत्र को रोक तो सकती हूँ, परन्तु इस से मेरा धर्म जाता है और सभ्यधियों में शत्रुता पैदा होगी ।

टीका:—सम्बंधियों से शत्रुता—महाराज दशरथ, कैकेयी और भरत सब बुरा मानेंगे कि मैंने ही रामचन्द्र को पिता की आज्ञा मानने नहीं दी और बाधा डाली । दूसरा “बंधु” का अर्थ “भाई” करने से यह अर्थ होता है कि इस प्रकार भरत और राम में द्वेष जाग्रत होगा ।

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी । रामु भरत दोउ सुत सम जानी ॥

अयो. ५४, ३.

फिर (उस ने, स्त्री-(तिय) धर्म (अगना कर्तव्य) जानकर चतुर कौशल्या ने राम और भरत दोनों को एक समान अपना पुत्र मान कर ।

सरल सुभाउ राम महतागी । बोली वचन धर धरि भारि ।

नात जाउं यलि कीन्हेउ नीका । पिता आयसु रुब धरम क टीका ॥

अयो. ५४, ३.

बड़े धीरज को धर राम की माता ने सरल स्वभाव से कहा (कि) हे पुत्र ! मैं तुम पर बागी जाऊं (जाऊं बलि) तुम ने यह बहुत ठीक किया (कीन्हे नीका), पिता की आज्ञा पालन करना सब धर्मों में श्रेष्ठ (टीका) कहा गया है ।

किन्तु एक बात कहती हूँ कि:—

जौं केवल पितु आयसु नाता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥

हे पुत्र (ताता) ! यदि केवल पिता जी ने तुम्हें यह आज्ञा दी है तो

यह जान कर कि (धर्मशास्त्रों के अनुसार पिता से) माता का पद बढ़ा होता है (मैं आशा करती हूँ कि) तुम (वन को) मत जाओ, जनि जाहु)।  
जौ पितुमातु कहेउ बन जाना। तो कानन सत अवध समाना॥  
अयो. ५४, १.

किन्तु यदि पिता (दशरथ) और माता (कैकेयी) दोनों ने ही तुम्हें बन जाने को कहा है तो तुम्हारे लिये बन सौ अयोध्या (अवध) के समान है।

टी. टी.—जहाँ कौशल्या भरत को भी अपना पुत्र राम के समान मानती है वहाँ कैकेयी को भी रामचन्द्र की अपने समान माता बताकर उस को इतना नारी सम्मान देती है कि आरच्य होता है। यह केवल उस के स्थित-प्रज्ञ होने का प्रभाव है।

पितु बन देव मातु बन देवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥  
अयो. ५४, २.

(मैं आशीर्वाद देती हूँ कि) वन के देवता पिता की तरह और वन की देवियाँ माता की तरह तुम्हारी रक्षा करें और मंगल मय हों तथा वन के पक्षी (खग) मृग आदि सब तुम्हारे चरणमल (सरोरुह) के सेवक हों (अर्थात् तुम्हें कभी कोई कष्ट न दें और हानि न पहुँचाए)।

देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहि नयन पलक की नाई॥  
५६, १.

हे पुत्र (गोसाईं)! जिस प्रकार पलकें आखों की रक्षा करती हैं, उसी तरह सभी देवता और पितर तुम्हारी सदा रक्षा करते हैं।

ज्यों-ज्यों कौशल्या ऐसे वाक्य कह रही थी त्यों-त्यों उसके हृदय की पीड़ा बढ़ती जा रही थी और जब उसने अपने वचन समाप्त किये तो उसके मन की व्यथा इतनी तीव्र हो गई कि वह बेसुध होकर भूमि पर गिर पड़ी। रामचन्द्र ने उन्हें उठाकर छाती से लगाया और फिर बार-बार कोमल वचन कह कर उन्हें समझाने और सान्त्वना देने लगे।

## ९. भारत रमणी

[सीता का चरित्र भारत की आदर्श महिला का सर्वोच्च तथा श्रेष्ठतम प्रतीक है, जिस की सब से बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ वह समृद्धि-काल में पति के साथ सुख और ऐश्वर्य्य भोगती हुई फूल की कली के समान कोमलांगी तथा सुकुमार दीख पड़ती हैं, उससे कहीं अधिक वह विपत्ति के दिनों में चटान की तरह सुख होती हैं और बड़े से बड़े संकट पड़ने पर भी उस का मुख पूर्ववत् आनन्द से भरी मुस्कान की रेखाओं से प्रफुल्लित रहता है और उसके माथे पर कभी बल नहीं पड़ता ।]

माता कौशल्या का विलाप सुन कर सीता जी भी यदी पर चली आईं । तब कौशल्या को चिन्ता हुई कि कहाँ राम के साथ यह भी न उठ कर वनों को चल पड़े हम लिये उम ने राम को कहा कि तुम जाते हो तो जाओ किन्तु मेरे पास भीता को छोड़ जाओ । रामचन्द्र सीता को ममझाने लगे कि तुम यहाँ पर रह जाओ और मेरे पीछे अपनी सासु तथा श्वसुर की सेवा करती रहना—श्री का यदी धर्म और कर्तव्य है और वैसे भी वन में बहुत कष्ट हैं—भयकर जंगली जन्तु हैं, गजस और दैत्य हैं, विभ्राम के लिये कोई उपयुक्त स्थान नहीं और मार्ग बड़े कटीले और पथरोले हैं आदि-आदि । यह सुन कर :—

लागि सासु पग कह कर जोरी । छमवि देवि बड़ि अविनय मोरी ॥

सीता जी अपने मामु के चरणों में गिर पड़ीं और हाथ जोड़ कर कहने लगीं कि हे माता ! (देवि) मुझे क्षमा करां (छमवि) यह मेरी बड़ी धृष्टता (अविनय) है (जो अब मैं कहने लगी हूँ) ।

दीन्हि प्रानपति सोहि सिख सोई । जेहि विधि मोर परम हित होई ॥

अयो. ६३.३.

मेरे प्राणपति ने जो मुझे शिक्षा (सिख=सीख) दी है, वह निश्चय ही मेरे परम कल्याण के लिये है ।

मैं पुनि समुक्ति दीख मन माहीं । पिय-वियोग-सम दुख जग नाहीं ॥

(किन्तु) मैं ने फिर बड़े ध्यान में अपने मन में सोच कर देखा है कि अपने पति से विलुप्त होने के बग़ायर संसार में कोई अन्य दुःख नहीं है ।

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान ।

तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक समान ॥६४॥

(इसके पश्चात् सीता ने रामचन्द्र को सम्बोधन करके कहा कि) हे प्राणनाथ, दया के सागर (आयतन). सुन्दर, सुख देने वाले, बुद्धिमान् रघुवंशरूपी कमल (कुमुद) को विकसित करने वाले चन्द्रमा (बिधु) ! तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग (सुरपुर) भी नरक के समान है ।

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवार सुहृद समुदाई ।

(हे स्वामी !) माता-पिता, बहिन और प्यारे भाई, प्यारे कुटुम्बी और मित्रों का समुदाय ।

सास ससुर गुरु सजन महाई । सुत सुन्दर सुशील सुखदाई ॥१॥

सासु, श्वसुर, गुरु, दितेयी, सहायक तथा सुशील और सुख देने वाला पुत्र ।

जहं लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते ॥

हे नाथ । जहा तक स्नेह और सम्बन्धी होने की बात है यह सब पति के बिना एक स्त्री को (तियहि) सूर्य (तरनिहुँ) से भी (ते) अधिक तपाने वाले (ताते) होते हैं ।

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पतिबिहीन सब सोकसमाजू ॥२॥

पतिहीन स्त्री को अपना शरीर, धन दौलत, (विशाल) भवन (धरनि) और नगर का राज्य सभी कुछ शोक का समूह (समाज) है ।

भोग रोगसम भूषण भारू । जम-जातना-मरिस संसारू ॥

उसके लिये ऐश्वर्य की सब सामग्री तथा संपत्ति रोगों के समान बन जाती है और (शृङ्गार के) गहने (तथा वस्त्र) बोझ हो जाते हैं और सारा संसार उस को यमराज के दारुण दूनों (जातना=अत्यन्त क्लेश पहुँचाने वालों) की भान्ति (सरिस) होते हैं ।

टीका: — अभिप्राय यह है कि पतिहीन स्त्री को सबन्धी क्या और पराये क्या सभी उसके शत्रु हो जाते हैं, अर्थात् उसको खाने को (पथ-भ्रष्ट करने को) दीइते हैं ।

प्रानना न तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहं सुखद कतहुँ रछु नाही ॥३॥

हे प्राणनाथ ! जगत् में तुम्हारे बिना मुझे कहीं भी और कुछ भी सुख देने व ला नहीं है ।

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी । तइमिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥

जो अवस्था शरीर की आत्मा (जिअ=जी=मन) के बिना और नदी की बिना जल के होती है (अर्थात् सर्वथा व्यर्थ), वैसी ही स्थिति पुरुष के बिना स्त्री की है ।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे । सरद बिमल बिधु बदन निहारे ॥४॥

हे नाथ ! आपके साथ रह कर ही शत्रु ऋतु का शुद्ध (बिमल) चन्द्रमा (बिधु) के समान आपके मुख (बदन) को देखते रहने से ही सब सुख प्राप्त हैं ।

खग मृग परिजन नगर बन, बलकल बिमल दुकूल ।

नाथ साथ सुर सदन सम, परनसाल सुखमूल ॥६५॥

हे नाथ ! आप के साथ रहने से वन के पशु (खग) पक्षी (मृग)

ही मेरे कुटुम्बी होंगे, वन को नगर (अयोध्या) समझूंगी। पेड़ों की छाया (बलकल) को अपने लिये सुन्दर (बिमल) रेशमी कपड़े (दुकूल) और पत्तों की बनी हुई भौंपड़ी (परनसाल) से ही मुझे ग्वब सुख (सुखमूल) मिलेगा।

बनदेवी बनदेव उदारा। वरिहिं सासु ससुर सम सारा।  
बन के देवी देवता मेरी रक्षा और संभाल सास तथा ससुर की भाँति हर प्रकार के उदार (व्यवहार) के साथ करेंगे।

कुस-किसलय सावरी सुहाई। प्रभुसंग मंजु मनोज तुराई॥१॥  
(आप) प्रभु (स्वामी) के संग कुश और नगम पत्तों का पिछौन (साथरी) कामदेव (मनोज) के तोशक (तुराई) के समान मुझे सुन्दर (मंजु) लेंगे।

कंद मूल फल अमिअ अहारु। अवध सौध सत सगिस पहारु।  
वृक्ष के कंद-मूल फलों वा भोजन मेरे लिये अमृत होगा और वन के पहाड़ (पहारु) मुझे अयोध्या (अवध) के सौ (सत) राजमहलों (सौध) के समान सुन्दर लेंगे।

छिनु छिनु प्रभु पदकमल विलोकी। गहिहउं मुदित दिविस जिमि कोकी।  
मैं हर दम (क्षण=पल) अपने स्वामी के चरणकमलों को देख के ऐसे प्रसन्न रहा करूंगी, जैसे दिन में चकवी (कोकी) प्रसन्न रहती है।

बन दुख नाथ कहे बहुनेरे। भय विषाद परिताप घनेरे।  
प्रभु-वियोग लव-लेस-समाना। सब मिलि होहि न कृपानिधाना॥३॥

हे नाथ ! आप ने वन के बहुत से दुःख, भय, क्लेश और सन्ताप कहे हैं। (किन्तु) हे कृपानिधान ! वे सब लिये कर भी आप स्वामी के वियोग के सामने रत्ती भर भी नहीं। (अर्थात् आप से अलग रहने का दुःख मुझे इन सब से कहीं भयकर और अधिक होगा)।

को प्रभु संग मोहि चितवनि द्वारा। सिधबधुहि जिमि ससक सियारा

जिस प्रकार खरगोश (ससक) तथा गीदड़ों (सियार) की शेर की स्त्री (निचबधु=शेरनी) की ओर देखने की भी हिम्मत नहीं पड़ती, उसी प्रकार कौन है जो आप (स्वामी) के साथ रहते हुए मेरी ओर आंख उठा कर भी देख सके (इस लिये मुझे वन में काहे का भय ?) ।

मैं मुकुमारि नाथु बन जोगू । तुम्हहि उचित तपु मो वह भोगू ॥

अयो. ६६, ४.

मैं मुकुमारी हूँ (आप मुकुमार नहीं हो ! ) इस लिये आप वन जाने के योग्य (बनजोगू) हो ! आप वन में जाकर वृष्ट और दुःख सहन (तप) करो और मैं (अयोध्या में यही रह कर) आगम और भुव भोगू—क्या आप मुझ से यही कहना चाहते हैं ?

अस कहि सीय बिकल भइ भारी । वचन वियोग न सकी संभारी ॥

सीता जी ऐसा कहते-वहते बहुत अधीर हो उठीं और उन को अपने स्वामी से वियोग होने के ध्यान मात्र से इन वचनों ने इतना क्लेश पहुँचाया कि वे अपने आप को संभाल न सकीं ।

देखि दसा रघुपति जिय जाना । हठि राखे नहिं राखहि प्राणा ॥

अयो. ६७, १.

(सीता जी की) ऐसी बुरी दशा देख कर रामचन्द्र जी ने अपने मन (जिय) में समझ लिया कि यदि मैंने हट कर के इस को वन जाने से रोक तो यह अवश्य ही अपनी जान पर खेल जायगी और प्राण त्याग देगी ।

कहेउ कृपाल भानु-कुल नाथा । परिहरि मोक्षु चलहु बन साथ ॥२॥

(तब) कृपालु सूर्यवंश के स्वामी श्री रामचन्द्र ने (सीता जी से) कहा—(कि अच्छी बात है) तुम सब चिन्ता (इस बारे में) त्याग कर मेरे साथ वन को चलो ।

## १०. केवट की मजूरी

[यह हमें पता नहीं कि केवट ने किसी गुरु के चरणों में बैठ कर कुछ विद्या प्राप्त की थी या नहीं, किन्तु उस ने जिस ढंग से रामचन्द्र जी के साथ बात चीत की उस से प्रमाणित होता है कि वह एक बहुत चतुर व्यापारी की तरह ग्राहक से सौदा करना जानता था । उसने श्रीराम से यह नहीं कहा कि भगवन् ! मैं आप का भक्त हूँ अत एव पहिले मुझे अपने चरणों की रज ले लेने दीजिये और न उस ने पहिले ही गंगा को पार कराने की मजूरी ठहराई । उस ने यह लालच नहीं किया कि अब अवसर मिला है श्रीराम राजकुमार हैं इस लिये दिल खोल कर जो मजूरी मांगूंगा, वही मिल जावेगी । व्यापार करने वाले लोग इस प्रकरण को पढ़ कर बहुत शिक्का प्राप्त कर सकते हैं कि ग्राहक से सौदा करने की रीति यह नहीं है कि छूटते ही दाम ठहराने का प्रयास किया जाए, बल्कि सब से उत्तम विधि यह है कि सब से प्रथम ग्राहक को अपनाने और उस के मन में यह विश्वास बिठलाने का प्रयत्न करना चाहिए कि मैं उस का सम्पूर्ण हित-चिन्तक हूँ और मैं कभी भी उस से एक पैसा भी उचित दामों से अधिक चार्ज नहीं करूँगा । फिर परिणामस्वरूप उस को अपने “माल” के मुँह मांगे दाम मिल जाते हैं ।]

रामचन्द्र जी ने गुमन्त्र को समझा-बुझा कर अयोध्या को वापस किया और स्वयं गंगा जी के किनारे पहुँच कर पार जाने के लिये नाव मँगवाई ।

मांगी नाव न केवट आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥

श्रीराम ने जब नाव मांगी तो केवट नाव नहीं लाया और कहने लगा कि हे श्रीराम ! मैं तुम्हारे भेद को जानता हूँ (कि) ।

चरन कमल रज कहं सब कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥

अ.यो. ६६, २.

सब लोग यह कहते हैं कि तुम्हारा चरणकमल की रज में कुछ ऐसी सत्ता (अपधि=मूरि) है कि जिस को छू जाए उस को मानव शरीर में परिवर्तित कर देती है ।

छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ॥३॥

(क्योंकि) आप की रज छूने ही वह शिला (पत्थर की मूर्ति) एक सुन्दर नारी हो गई । फिर मेरी नाव तो केवल काठ की है जो पत्थर (पाहन=पापाण) से अधिक कड़ा नहीं होता । (जो आप की रज छूने यह मानव न हो जावेगा) ।

एहि प्रतिपालउं सबु परिवारु । नहिं जानउं कछु अउर कबारु ॥

मैं तो इसी के द्वारा अपने कुटुम्ब का पेट पालता हूँ । इसके अतिरिक्त मुझे और (अउर) कोई कारोबार (कबारु) अथवा धन्धा नहीं आता ।

जौं प्रभु पार अर्घास गा चहहू । मोहि पद पदुम पधारन कहहू ॥४॥

यदि आप मेरी नाव से अवश्य पार जाना चाहते हैं तो मुझे आपके चरण कमलों को धो लेने (पधारन) के लिये आज्ञा प्रदान कीजिये । कृपातिन्धु बोलें मुसुकाई । सोइ करु जेहि तब नाव न जाई ॥

श्री रामचन्द्र जी मुस्कुरा कर बोलें—(भाई ! ) तू वही कर जिस से तेरी नाव न चली जाए ।

बेगि आनु जलु पाय पखारु । होत बिलम्बु उतारहि पारु ॥

अ.यो. १००, १.

जरा जल्दी (बेगि) से जल लाकर (हमारे) पांव (पाय) को लो (पखारु) । हमें देर हो रही है पार उतरने में ।

केवट रामु रजायसु पावा । पानि कठबत्त भरि लेइ आवा ॥

श्रीरामचन्द्र की अनुमति (रज़ा) पाकर केवट एक कठौते (लकड़ी का एक बर्तन) में पानी भर कर ले आया ।

अति आनन्द उमगि अनुरागा । चरन सरोज पखारन लागा ॥४॥

और बड़े ही आनन्द की उमग में प्रेम के साथ श्रीराम के चरण कमलों को धोने (पखारन) लगा ।

पद पखारि जलु पार करि, आपु सहित परिवार ।

पितर पार करि प्रभुहि, पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥१०१॥

श्रीराम के चरणकमलों को धोकर उस जल को आप अपने परिवार-सहित पिया और इस प्रकार अपने पितरों को भवसागर से पार कर बड़ी प्रसन्नता (मुदित) से श्रीरामचन्द्र जी को नाव पर चढ़ा कर गंगा के पार ले गया ।

उतरि ठाढ भये सुरसरि रेता । सीय राम गुह लषन समेता ॥

पार उतर कर श्रीराम सीता जो लक्ष्मण और गुरु के समेत गंगा जी (सुरसरि) की रेत में खड़े हो गए (ठाढ भये) ।

केवट उतरि दंडवत कोन्हा । प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछ दीन्हा ॥

केवट ने नाव से उतर कर श्रीराम को साष्टांग प्रणाम किया, तब श्रीराम को यह सोच कर मन में सकोच हुआ कि मैंने इस बेचारे को पार करने की कुछ मजूरी तो दी ही नहीं ।

पिय हिय की सिय जाननि हारी । मनि मुन्दरी मनु मुदित उतारी ॥

अपने पति के मन की बात जानने वाली सीता जी ने प्रसन्न मन से (मनु मुदित) अपनी मनि-जड़ित मुन्दरी उतार दी ।

कहेउ हृपाल लेहि उतराई । केवट चरन गहेउ अकुलाई ॥२॥

तब हृषीकेश रामचन्द्र जी ने केवट से कहा कि यह अपनी नाव की

उतराई लो । यह सुन कर केवट ने बहुत व्याकुल होकर उनके चरण पकड़ लिये (गहेठ) ।

नाथ आजु मैं काह न पावा । मिटे दोष दुख दारिद-दावा ॥

(श्रीर कहने लगा कि) हे नाथ ! आज मैंने क्या नहीं पाया (अर्थात् सब कुछ मुझे मिल गया) । आज मेरे सब दोष और दुःख मिट गए और मेरी गरीबी की अग्नि (दावा) भी शान्त हो गई (अर्थात् मेरी गरीबी भी सब दूर हो गई और मैं बहुत अमीर कबीर हो गया हूँ) ।

बहुन काल मैं नीन्हि मजूरी । आजु दीन्हि विधि बनि भलि भूरी ॥३॥

मैंने बहुत काल तक यह मजूरी की है किन्तु आज विधाता (विधि) ने भली-भान्ति दिल खोल कर (भूरी) मजूरी (बनि) दे दी है ।

अब कुछ नाथ न चाहिय मोरे । दीनदयाल अनुग्रह तोरे ।  
फिरती बार मोहि जोइ देवा । सो प्रसाद मैं सर धरि लेवा ॥४॥

(इस समय तो मुझे क्षमा कीजिये— मैं आप से कुछ मजूरी नहीं लूँगा—किन्तु यदि आप मुझे अवश्य कुछ देना ही चाहते हैं तो इतनी कृपा कीजिये कि) लौटती बार (आप फिर मुझे एक बार दशन देना— तब) जो भी आप मुझे देंगे, मैं उसको प्रसाद मान कर बड़ा प्रसन्नता के साथ सिर आखों पर चढ़ा कर स्वीकार कर लूँगा ।

टीका:—केवट के मजूरी न लेने के ये पाँच कारण हैं—१. आप भव-सागर के केवट हो, मैं गंगा नदी का, अतः एतद्दम दोनों एक ही जात बरादरी के हुए, यह व्यवहार का नियम है कि अपने धम्मे के व्यक्ति से कोई काम करने-कराने के दाम नहीं लेता । वकील दूसरे वकील का मुकद्दमा करने की और डाक्टर अन्य डाक्टर को बीमारी में देखने की कभी फीस चार्ज नहीं करता । २. मैंने जो एक बार मन में निश्चय कर लिया कि मजूरी नहीं लूँगा अब कैसे लूँ ? ३. आप बन जा रहे हैं, अब दण्ड्य (कसबा पैसा) आपने त्याग दिया है, जो आप

से क्योंकर लूँ । ४. आप के चरणामृत पीने से मेरे पितर भवसागर से पार हो गए । मैंने आप को गंगा पार करा दिया, लेखा बराबर हुआ । मुझे भय है कि यदि मैंने अब कुछ मजूरी ले ली तो शायद आप वापसी पर मुझे दर्शन न दोगे । मुझे एक बार फिर आप के दर्शन करने का बड़ा मोह है, सो यही आप का और मेरा यह हिसाब चलता रहेगा तो आप इसको चुकता करने के लिये तो अवश्य ही वापसी पर मुझे दर्शन दिये बिना अयोध्या न लौट जाएँगे ।

बहुत कीन्ह प्रभु लपनु सिय, नहीं कछु केवटु लेइ ।

बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥१०२॥

श्रीराम, लक्ष्मण सीता जी ने बहुत आप्रश् किया तो भी केवट ने कुछ नहीं लिया । तब दयालु रामचन्द्र जी ने उसे निर्मल भक्ति का वरदान देकर बिदा किया ।



## ११. अन्तिम रात्रि

[महाराज दशरथ रामचन्द्र जी के वन गमन के पश्चात् कुल ६ दिन जिए और सातवें दिन उन्होंने प्राण त्याग दिये। यह सात दिन भी वे इस आशा पर सोप लेते रहे थे क्योंकि उन्होंने ने अपने मन्त्री सुमन्त्र को आदेश दे रक्खा था कि जैसे भी हो किसी न किसी युक्ति से श्रीराम को अवश्य लौटा लाना। सुमन्त्र बहुत चतुर व्यक्ति था और इस लिये उन्हें पूरा विश्वास था कि वह किसी न किसी ढंग से श्रीराम को वापस आगे धरा लाने में अवश्य सफल हो जाएगा, किन्तु जब वह राम के बिना अकेला उन के सन्मुख आकर खड़ा होगया और उसने सब व्योरा दिया तो उन्हें हठ निश्चय हो गया कि अब इस जीवन में वह कभी अपने सुपुत्र राम को देख न पाएंगे तो उन्होंने जीने की आशा छोड़ दी।

हमें बहुत खेद है कि गोसाईं तुनसीदास जी ने महाराज दशरथ के जीवन की अन्तिम रात्रि का बहुत ही संक्षेप से वर्णन किया है। किन्तु श्री बाल्मीकि जी ने इन का उल्लेख विस्तार से किया है और इतना प्रबल और भावपूर्ण कि पत्थर का हृदय रखने वाले पाठकों के नेत्रों से भी इस प्रकरण को पढ़ कर भावपूर्ण अश्रुधारा बहने लगती है। सुमन्त्र के मुख से सारा वृत्तान्त सुन कर माँ का हृदय इतना विदीर्ण हो गया कि वह कौरव्या महारानी, जिस ने अपने पति के प्रेम से वंचित होने और अपनी मौत के कर्मों से सदैव तिरस्कृत होने पर भी आज तक कभी एक शब्द मुख से शिकायत का नहीं निकाला था और जिसने सदा अपने मन और इन्द्रियों को पूरे वश में रक्खा था, इस समय अपने आप को सम्भाल न सकी और उस ने एक दो कटु वचन भी अपने पति को कह दिये जिन को सुनकर निःसहायों की भाई रोते

हुए महाराज दशरथ हाथ जोड़ कर उस से क्षमा मांगने लगे। तब धर्मपरायणा कौशल्या उन के चरणों में गिर पड़ी और अपना अपराध क्षमा कराने के लिये बार-बार प्रार्थना करने लगी। कुछ आराम मिलने पर महाराज दशरथ को निद्रा आगई। थोड़ी देर के पश्चात् वह हड़-बड़ा कर जागे। भारी दुःख में पड़ कर ही लोग तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। इस मृत्यु-यातना ने उन के ज्ञान-चक्षु खोल दिये और वे समझ गए कि युवावस्था में उन्होंने जो श्रवण की हत्या करके उस के पिता मिथुन ऋषि और उस की जननी के कलेजे को टुकड़े-टुकड़े कर दिया था। यह उसी करनी का फल है।

हम यह पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि यदि तुलसीदास जी महाराज दशरथ और महारानी कौशल्या के इस सम्वाद को और श्रवण की हत्या का जो वृत्तान्त महाराज दशरथ ने उस समय सुनाया उस को विस्तार से कहीं चौपाई-बद्ध कर देते तो कमाल हो जाता। शायद उन्हें राम-चरित-मानस के पाठकों और श्रोताओं पर तरस आ गया था कि अयोध्याकाण्ड में इस से पूर्व ही वह अपनी ओजस्विनी लेखनी से उन्हें बहुत रुला चुके हैं अतएव उन्हें भय हो गया था कि यदि उन्होंने इस प्रकरण को भी विस्तार से लिख दिया तो सम्भव है बहुत से पाठकों और श्रोताओं के हृदय की गति सर्वथा ही बन्द न हो जाये।]

तमसा नदी को पार करके जब दुमन्त्र खाली रथ लेकर अयोध्या नगरी के बाहर पहुँचा तो अभी बहुत दिन था। उस का साहस नहीं पड़ता था कि वह राम, लक्ष्मण, सीता जी के बिना सूर्य के उजाले में अयोध्यावासियों को अपना मुँह कैसे दिखाएगा—अतएव :—

पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु बाम्हन गाई ॥

अयो. १४६, २.

मंत्री (सचिव) दुमन्त्र नगर में घुसने (पैठत=प्रवेश करने) से ऐसे

सकुचा रहा था जैसे उसके हाथ से गुरु, ब्राह्मण अथवा गऊ की हत्या हो गई हो ।

बैठि छिटपुटर दिवस गवांवा । सांझ समय तब अवसर पावा ॥२॥

(हस लिये) उसने एक पेड़ के नीचे (छिटपुटर) बैठ कर (शेष) दिन बिता दिया और जब सांझ पड़ी तो उसे (नगर में जाने का) अच्छा मौका मिला ।

अवध प्रवेश कीन्ह अधियारे । पैठ भवन रथु राखि दुआरे ॥

अन्धेरा होने पर सुमन्त्र ने नगर अयोध्या (अवध) में प्रवेश किया और दरवाजे पर ही रथ छोड़ कर आप स्वयं राजमहल में गया ।

जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाये । भूपद्वार रथु देखन आये ॥३॥

जिन-जिन को उसके आने की खबर मिली, वह राजद्वार पर रथ को देखने आये ।

रथ पहिचान विकल लखि घोरे । गरहिं गात जिमि आवत ओरे ॥

(जिस में श्रीराम बैठ कर वन को गये थे उस) रथ को पहिचान कर और घोड़ों को व्याकुल देख कर इन सब लोगों के शरीर (गात=हाथ पाँव) ऐसे शल हो गये जैसे धूस पड़ने से ओले गल जाते हैं ।

नगर नारि नर व्याकुल कैसे । निघटत नीर मान गन जैसे ॥४॥

नगर के सर्व नर-नारी ऐसे व्याकुल हुए जिस प्रकार जल के घटने पर (निघटत) मच्छलियां होती हैं ।

सचिव आगमनु सुनत सबु विकल भयउ रनिवासु ।

भवनु भयंकर लाग तेहि मानहुं प्रेत निवासु ॥१४॥

मन्त्री का आना सुन कर रनिवास के सब नर-नारी व्याकुल हो उठे और उन को राजमहल भयङ्कर और भूत प्रेतों (प्रेत) का डेरा (अर्थात् शमशान) सा प्रतीत होने लगा ।

अति आरति सब पूछहि रानी । उतरु न आव विकल भई बानी ॥

सब रानियां अत्यन्त दुःखी (आरति) होकर मन्त्री से (श्रीराम आदि का हाल-चाल) पूछती हैं, किन्तु उस को कोई उत्तर देने को नहीं सूझता उस की वाणी को घबराहट के मारे कुछ सुधि ही नहीं ।

सुनइ न सवन नयन नहिं सूझा । कहहु कहां नृप जेहि तेहि बूझा ॥१॥

उस को कानों से कुछ सुनाई नहीं पड़ता और आंखों से कुछ दीखता नहीं—जो कोई भी उस को मिलता उससे वह यही पूछता कि बताओ (कहहु) महाराज दशरथ कहां पर हैं ।

दासिन्ह दाख सचिव बिकलाई । कौसल्या गृह गई लेवाई ॥

मन्त्री की इतनी अधिक व्याकुलता देख कर दासियां उस को महारानी कौशल्या के रनिवास में (जहां पर महाराज दशरथ थे) ले गईं ।

जाइ सुमंत्र दीख कस राजा । अमिय रहित जनु चन्दु विराजा ॥२॥

वहा पहुँच कर सुमंत्र ने राजा (महाराज दशरथ) को कैसा (कस) देखा, मानो जैसे अमृत (अमिय) से शून्य (रहित) अर्थात् अभावस्था के दिन का चन्द्रमा हो ।

आसन सयन विभूषन हीना । परेउ भूमितल निपट मलीना ॥३॥

वह आसन (विस्तर) शय्या (सयन) और भूषणों से रहित मैले कुचैले कपड़ों में धरती पर पड़े हुए थे ।

राम राम कह राम सनेही । पुनि कह रामु लषन बैदेही ॥४॥

वह बार-बार मुख से राम, राम, प्यारे (सनेही) राम कह कर फिर राम लक्ष्मण सीता पुकारने लगते ।

देखि सचिव जय जीव कहि कीन्हेउ दंड प्रनामु ।

सुनत उठेउ व्याकुल नृपति कहु सुमंत्र कहं रामु ॥१४८॥

मन्त्री ने उन्हें देख कर जयकार (जय जीव) बुलाया और झुक कर

प्रणाम किया। उसकी आवाज सुनते ही महाराज व्याकुल होकर तुरत उठ बैठे और कहने लगे हे सुमन्त्र ! बताओ राम कहाँ हैं ?

भूप सुमन्त्र लीन्ह उर लाई । बूझत कछु अधार जनु पाई ॥

महाराज ने सुमन्त्र को अपनी छाती से लगा लिया जैसे डूबते (बूझते) को कुछ (तिनके का) सहारा मिल गया हो ।

सहित सनेह निकट बैठारी । पृथ्णत राउ नयन भरि बारि ॥१॥

राजा ने बड़े प्रेम के साथ सुमन्त्र को अपने पास थिठलाया और फिर आँखों में जल (अश्रु) भर कर पूछने लगे ।

राम कुसल कहु सखा सनेही । कहं रघुनाथ लपनु वैदेही ॥

हे प्यारे मित्र ! बताओ रामचन्द्र जी कुशलपूर्वक तो हैं, तथा राम लक्ष्मण और सीता कहाँ हैं ?

आने फेर कि बनहि सिधाये । सुनत सचिव जोचन जल छाये ॥२॥

क्या तुम उन को लौटा लाए या वे वन को चले गए ? यह सुन कर सुमन्त्र की आँखों में पानी भर आया ।

सोक विकल पुनि पूछ नरेसू । कहु सिय राम लपनु संदेसू ॥३॥

राजा शोक से व्याकुल होकर फिर पूछने लगे कि कहाँ सीता, राम तथा लक्ष्मण ने (जाते समय) हमें क्या संदेश दिया है ?

सुमन्त्र ने धीरे-धीरे महाराज को धैर्य दिलाना प्रारम्भ किया और धर्म शास्त्रों के कई वाक्य सुनाए जिन से महाराज को कुछ सान्त्वना मिली । तत्पश्चात् मंत्री ने श्रीराम का सारा व्योरा दिया कि किस प्रकार वह वन को सिधारे और मुझे लौटाते उन्होंने क्या संदेश दिया ।

सूत वचन सुनतहिं नरनाहू । परेउ धरनि उर दाहून दाहू ॥

१५२, ३.

सुमन्त्र (सूत=सारथि) के वचन सुनकर महाराज दशरथ (नरनाहू=

मरणाथ) धग्ती पर गिर पड़े और उन के हृदय में बहुत भारी सन्ताप और दुःख हुआ ।

करि विलाप सब रोवहि रानी । महा बिपत्ति किमि जाइ बखानी ॥

सब रानियां विलाप करने और रोने लगी— उस समय की महा बिपत्ति का कैसे वर्णन किया जा सकता है ।

सुनि विलाप दुःखहू दुःख लागा । धीरजहू कर धीरजु भागा ॥६॥

उस विलाप को सुन कर स्वयं दुःख को भी दुःख हुआ और धीरज का भी धीरज जाता रहा ।

भयउ कोलाहलु अवध अति सुनि नृप राउर सोरु ।

विपुल बिहंग बन परेउ निसि मानहुँ कुलिस कठोरु ॥१५३॥

राजा (और रानियों) के इस रुदन तथा विलाप का शोर (सोर) सुनकर सागी अयोध्या (अवध) में कुहराम (कोलाहल) मच गया जैसे महान (विपुल) पक्षियों (बिहंग) के वन में रात्रि (निसि) के समय घोर (कठोर) वज्र (कुलिस) गिरा हो ।

प्राण कंठगत भयउ भूआलू । मनि बिहीन जनु व्याकुल ठयालू ॥१॥

जिस प्रकार मणि के खो जाने से सांप (व्यालू) व्याकुल हो जाता है उसी तरह महाराज (भुआलू) के प्राण कंठ में (अपना स्थायी स्थान छोड़ कर) आगए ।

कौसल्या नृपु दीख मलाना । रबिकुल-रबि अथयेउ जिय जाना ॥२॥

कौशल्या ने महाराज दशरथ की ऐसी बुरी अवस्था देख कर अपने मन में समझ लिया (जिय जाना) कि सूर्यवंश का सूर्य (रबि) अब अस्त (अथयेउ) होने को है ।

महागानी कौशल्या ने सारी स्थिति समझ कर महाराज से कहा कि हे नाथ ! आप यह क्या करने लगे हैं राम, लक्ष्मण तथा सीता के वन

जाने से हम सब नर नारी पहिले ही अत्यन्त दुःखी हैं और हमारी नाव इस समय संभ्रधार में पड़ी है केवल आप ही हमारी नाव के रखवारे तथा खवैया हो। यदि आप भी हमें छोड़ कर चले जाएँगे तो हमारी नाव अवश्य डूब जाएगी और हम सभी डूब जाएँगे। मैं आप को पूर्ण विश्वास दिलाती हूँ कि हमें राम, लक्ष्मण तथा सीता फिर जरूर मिलेंगे।

प्रिया वचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आंगि उघारि।

तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल वारि ॥१५४॥

अपनी प्रिया (कौशल्या) के मीठे वचन सुनकर महाराज आंखें खोल कर (उघारि) देखने लगे (चितयउ) (कौशल्या के वचन सुनकर उनके कलेजे को बड़ी ठंडक पहुँची) मानो किसी ने (जल से बाहर) तड़पती मच्छली (मीन) पर ठंडा पानी (सीतल वारि) डाल दिया हो।

किन्तु महाराज की यह शांति क्षणिक थी।

धरि धीरजु उठि बैठि भुआलू। कहु सुमंत्र कहं राम कृपालू।

कहां लपनु कहं रामु सनेही। कहं प्रिय पुत्रबधू बैदेही ॥१॥

महाराज (भुआलू) कुच्छ धीरज धर कर उठ बैठे (तभी उनके मन में फिर कसक उठने लगी और वह हाहाकार करने लगे) (और बोले) कहो सुमंत्र ! दयालु राम कहां पर हैं ? लक्ष्मण कहां पर है, प्यारे राम कहां पर हैं और कहां पर हमारी स्नेह की पात्री पुत्रबधू सीता है ?

बिलपत राउ बिकल बहु भांती। भई युग सरिस सिराती न राती।  
तापस अंध-साप सुधि आई। कौसल्यहिं सब कथा सुनाई ॥२॥

व्याकुल होकर महाराज बहुत प्रकार से विलाप करने लगे। वह रात एक युग की तरह (सरिस) लम्बी हो गई और काटे से नहीं कटती (सिराती न राती) (उस समय बहुत रात गए) महाराज को अंधे तपस्वी (तापस) के शाप का ध्यान आया और उन्होंने वह सारी घटना (कथा) कौशल्या को कह सुनाई।

टीका :—अन्त समय में मनुष्य के ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और उसको सब पुरानी बातें स्मरण हो आती हैं ।

भयउ विकल वरनत इतिहासा । राम रहित धिग जीवन आसा ॥३॥

इस इतिहास को वर्णन करते-करते महाराज बहुत व्यकुल हो गए (और कहने लगे) कि अब राम के बिना मेरा जीना व्यर्थ और धिक्कार के योग्य (धिग=धिक्) है ।

हा रघुनन्दन प्रान पिरीते । तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते ।  
हा जानकी लषन हा रघुवर । हा पितुहितबिन चातक जलधर ॥४॥

हाय ! प्राणों से भी प्यारे राम ! तुम्हारे बिना जीते मुझे अब बहुत दिन हो चुके हैं (अब और जीकर क्या करूंगा) । हाय ! जानकी, राम ! हाय ! पिता के हित से भरे चित्त रूखी पपीहा (चातक) के लिए जल से भरे बादल ।

टीका :—महाराज भलीभांति समझ गए थे कि श्रीराम ने इतना त्याग केवल उनके सत्य तथा मर्यादा की रक्षा के लिये किया है । भाव यह है कि जिस प्रकार वर्षा के मेघ बरस कर पर्षाहा की प्यास बुझाते हैं और जगत का कल्याण करते हैं इसी तरह श्री राम लक्ष्मण तथा सीता, जिनके हृदयों में महाराज दशरथ के प्रति स्नेह तथा आदर है, जल से भरे बादल हैं ।

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम ।

तनु परिहरि रघुवर बिरह, राउ गयउ सुरधाम ॥५॥

अन्त में राम राम कहकर फिर राम कहकर और पुनः राम राम कहते २ महाराज (राउ) अग्ना शरीर (तनु) त्याग कर (परिहरि) श्रीराम के वियोग (बिरह) में स्वर्ग (सुरधाम) को सिधार गए ।

टीका :—बुढ़ापे में सन्तान होने के कारण यदि महाराज दशरथ अपने पुत्रों से बहुत स्नेह करते थे तो यह स्वाभाविक ही था, परन्तु इससे

यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि वह अपने पुत्र राम के प्रेम में इतने अधिक आत्मगत थे कि केवल उसके वियोग से ही अत्यन्त सन्तप्त तथा दुःखी होकर उन्होंने अपने प्राण विसर्जन कर दिये। वह सारी आयु इतने धर्मपरायण तथा संयमी रहे कि उनके सम्बन्ध में ऐसी धारणा नहीं की जा सकती। “रघुधर बिरह” उनकी मृत्यु का उत्पादक हेतु अवश्य था, किन्तु उनके देहान्त का मूल तथा सद्यः कारण उनकी आत्म-ग्लानि थी। श्रीराम को बन भेजने के विषय में अपने सारे व्यवहार से उन्हें अपने लिये इतनी घृणा हो चुकी थी कि इस आत्म-ग्लानि का उन्होंने अपने लिये उपयुक्त प्रायश्चित्त तथा दण्ड केवल अपने देह का अन्त करना ही निश्चय किया, और वह परम पिता जगदीश्वर का नाम राम २ स्मरण करते परब्रह्म की ज्योति में समा गए।

---

## १२. मां का हृदय

[ मां का हृदय कितना और कहां तक विशाल होता है इसका एक पवित्र चित्र इस प्रकरण में देखने को मिलता है। कौशल्या ने अपनी सौत के पुत्र भरत को हृदय से लगा कर उतना ही आनन्द पाया जितना उन्हें राम को छाती से लगा कर मिलता था, मानो जैसे भरत ने भी उनकी कोख से ही जन्म लिया हो। भरत के मिलने पर उनके स्तनों में दूध आ गया। भरत को कौशल्या ने राम के बन जाने की सारी घटना संक्षेप से इतनी सुन्दरता के साथ कह सुनाई है कि अनायास ही बाह २ कहने को जी चाहता है। संभवतः वह अपने पति से प्रेम की उचित मात्रा न पाकर और कैकेयी से सदैव तिरस्कृत होकर रात दिन सन्ध्या-उपासना में जुटी रहती थीं, इसी कारण उनके अन्दर वार्तालाप करने में इतना संयम आ गया था। उन्होंने एक बार भी भरत को आक्षेप या क्रोध से अथवा दुःखी होकर यह नहीं कहा कि तुम्हारी मां ने मेरे पुत्र को बिना किसी अपराध के बन को भिजवाया और इसी कारण तुम्हारे पिता जी की मृत्यु हुई। सारा वृत्तान्त सुनाने के पश्चात् अन्त में उन्होंने अपने कष्ट तथा सन्ताप का थोड़ा सा वर्णन किया है। ]

कैकेयी को फटकार डालने के पश्चात् भरत जी कौशल्या के निवास में पहुँचे और उन्होंने देखा कि माता कौशल्या जी :—

मलिन बसन बिबर्गन बिकल कृस सरीर दुःख भार ।

कनक-कल्प-वर-बेलि बन मानहुँ हनी तुषार ॥ अयो. १६३॥

(कौशल्या जी) मैले वस्त्र पहने हुए हैं मुख का रंग पीका पड़ा हुआ है और दुःख से बेचैन हैं। शरीर सूख (कृस) गया है मानो, सोने की (कनक) कल्पवृक्ष (वर) की बेल के बगीचे को पाला (तुषार) मार (हनी) गया हो।

भरतहि देखि मातु उठि धाई । मुरुछित अवनि परि भई आई ।  
देखत भरतु बिकल भये भारी । परे चरण तन दसा बिसारी ॥१॥

भरत को आता देखकर माता कौशल्या उठ कर (उसे मिलने के लिए) दौड़ी, किन्तु उन्हें चक्कर (भई) आ गया और वह मूर्छित (मुरुछित) होकर भूमि (अवनि) पर गिर पड़ी। उनकी यह दशा देख कर भरत जी बहुत ही बेचैन हो गए और अपने शरीर की सब सुध-बुध भुला कर दौड़ कर (माता के) चरणों में गिर पड़े।

मातु तात कहं देहि देखाई । कहं सिय रामु लपनु दीउ भाई ।  
केकइ कत जनमी जग मांभा । जौ जनमित भई काहे न बांभा ॥२॥

(और कहने लगे) मां ! पिता जी (तात) कहाँ है ? मुझे दिखा दो । सीता तथा राम लक्ष्मण कहाँ पर हैं ? (मुझे बताओ) इस धरती पर (जगत् में) कैकेयी ने जन्म ही क्यों लिया और यदि लिया था तो वह बांभ ही क्यों न रही ?

पितु सुरपुर बन रघु-वर-केतू । मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥४॥

पिता जी स्वर्ग को सिंगारे और रघुकुल को पताका (भंडा) अर्थात् शिरोमणि श्रीराम बन को चले गये । इतने बड़े अनर्थ का कारण (हेतु) केवल मैं ही तो हूँ ।

मातु भरत के वचन मृदु, सुनि पुनि उठि संभारि ।

लिये उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति वारि ॥१६४॥

भरत के ऐसे मीठे वचन सुन कर कौशल्या अपने आप को कुछ सम्भाल कर उठी उन्होंने उठ कर भरत को छाती से लगा लिया और उनकी आंखों से आंसू बहने लगे ।

माता भरत गोद बैठा रे । आंसु पौछि मृदु वचन उचारे ॥२॥

उन्होंने भरत को खैच कर अपनी गोद में बिठा लिया और उसके आंसू पौछ कर मीठे (दिलासा देने वाले) वचन कहने लगीं ।

काहुँह दोस देहु जनि ताता । भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥४॥

हे पुत्र ! (ताता) तुम किसी को दोष मत (जनि) दो । मेरा तो विधाता सब प्रकार से उल्टा (बाम) हो गया है । (मेरा भाग्य ही फूट गया है—किसी का दोष नहीं) ।

पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर ।

बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर ॥६५॥

हे पुत्र (तात) ! पिता की आज्ञा पाकर (आयसु) श्रीराम ने गहने और कपड़े उतार कर वृत्तों की छाल (बलकल) के वस्त्र (चीर) पहिन लिये उस समय उनके हृदय में न आश्चर्य (विपाद) था और न दर्ष (अर्थात् सर्वथा एकरस थे) ।

मुख प्रसन्न मन राग न रोषू । सब कर सब बिधि करि परितोषू ।  
चले बिपिन सुनि सिय संग लागी । रहइ न राम चरन अनुगामी ॥१॥

उनका मुख प्रसन्न था उनकी न तो किसी में आसक्ति थी और न किसी पर क्रोध था—उन्होंने सब को सब प्रकार से सन्तुष्ट कर दिया । बन (बिपिन) को चलने का समाचार सुन कर सीता भी उनके साथ लग गई । श्रीराम के चरणों में अधिक प्रेम होने के कारण वह किसी तरह (राम को छोड़ कर पीछे) न रही ।

सुनत हि लषनु चले उठि साथा । रहहि न जतन किये रघुनाथा ।  
तब रघुपति सब हि सिरु नाई । चले संग सिय अरु लघु भाई ॥२॥

श्री लक्ष्मण भी बन जाने का समाचार सुन कर साथ में चल पड़े । श्रीराम ने बहुत यत्न किया परन्तु वह नहीं रुके । तब श्रीराम सब को नमस्कार करके सीता और अपने छोटे भाई को साथ ले वनों को चल दिये ।

राम लषणु सिय बनहिं सिधाये । गइउं न संग न प्रान पठाये ।  
एहु सब भाइन्ह आंखिन्ह आगे । तउ न तजा तनु प्रान अभागे ॥३॥

रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता तो वन को चल पड़े किन्तु मैं (कर्मों की मानी) न तो आप साथ गई और न मैं अपने प्राण ही उनके साथ भेज सकी । यह सब कुछ इन मेरी आंखों के सामने ही हुआ, तो भी (तउ) इन अभागे प्राणों ने यह शरीर (तनु) नहीं त्यागा ।

कौशल्या के वचन सुनि, भरतसहित रनिवासु ।

व्याकुल बिलपत राज गृहु मानहुं सोकनिवासु ॥१६६॥

कौशल्या के वचन सुन कर भगत समेत सारा रनिवास व्याकुल होकर बहुत विलाप करने लगा जैसे राजमहल में साक्षात् शोक ने निवास कर लिया हो ।

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई । कौशल्या लिये हृदयलगाई ॥१॥

भरत तथा शत्रुघ्न (जो साथ में थे) दोनों भाई बहुत ही विलाप करने लगे और व्याकुल हो गए, कौशल्या ने उन दोनों को अपने हृदय से लगा लिया ।

उस समय भरत ने अपनी निर्दोषता को प्रमाणित करने के लिए अनेक शपथ खाई उन्होंने कहा—

जे अघ मातु पिता सुत मारें । गाइगोठ महिसुर पुर जारें ।

जे अव तिय-बालक बध कीन्है । मात महीपति माहुर दीन्है ॥३॥

जो पाप (अघ) अपने माता-पिता अथवा पुत्र को मारने से होता है, जो गोशाला (गाइगोठ) तथा ब्राह्मणों के (महिसुर=धरती के देवता) मगर (पुर) को जलाने (जारे) से पाप होता है । जो पाप (अघ) स्त्री (तिय) तथा बालक को मारने से होता है, जो मित्र तथा राजा (महीपति) को विष (माहुर) देने से पाप होता है ।

जे पातक उपपातक अहहीं । करम वचन मन-भव कवि कहहीं ।  
ते पातक मोहि होहु विधाता । जौ एहु होइ मोर मत माता ॥१४॥

करम वचन तथा मन से उत्पन्न (भव) होने वाले जितने बड़े-बड़े पाप (पातक) और छोटे पाप (उपपातक) विद्वान् लोगों (कवि) ने कहे हैं । हे माता ! जो इस कार्य में (एहु=अर्थात् राम को वन भेजने में) मेरी अनुमति हो तो भगवान् (विधाता) मुझे वह दण्ड दें जो इन सब पापों को करने वालों को मिलता है ।

जे परिहरि हरि-हर-चरन, भजहिं भूतगन घोर ।

तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौ जननी मतमोर ॥१५॥

जो लोग हरिहर चरणों को छोड़ कर भूत-प्रेतों को भजते हैं, उनकी गति (नरक) मुझे विधाता देवें जो हे माता ! (जननी) राम को वन भेजने में मेरी सम्मति हो ।

बेचहिं वेद धरम दुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि देहीं ।

कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी । वेद विदूषक विस्वविरोधी ॥१॥

जो वेद बेचते हैं (जो धर्म ग्रन्थ कुछ लेकर पढ़ाते हैं) जो धर्म को दुह लेते हैं अर्थात् धर्म का नाम लेकर अपना स्वार्थ साधते हैं जो चुगलखोर (पिसुन) हैं और दूसरों के पापों की खूब डोंडी पीटते हैं । जा कपटी मन के पापों, झगडालू और क्रोधी होते हैं जो वेद (धर्म-ग्रन्थों) के निन्दक (दूषक) और हर किसी के विरोधी होते हैं ।

टीका :—विश्व-विरोधी वे लोग होते हैं जो चाहे अपना कुछ भला हो या न हो, बिना किसी प्रयोजन के प्रत्येक की बुराई करते और हानि पहुँचाते हैं ।

लोभी लपट लोलुपचारा । जे ताकहिं परधनु पर दारा ।  
पावउं मैं तिन्ह कै गति घोरा । जौं जननी एहु संमत मोरा ॥२॥

जो लोभी, छली और चालाक (चंचल) हैं, जिन की सदा दृष्टि दूसरे के धन और पराई स्त्री पर रहती है । हे माता (जननी) ! यदि इस काम में मेरी सम्मति हो तो मैं भी इनकी ही अधम गति को प्राप्त होऊँ ।

जे नहिं साधु संग अनुरागे । परमारथपथ विमुख अभागे ।  
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई । जिन्हहि न हरि-हर-सुजसु सुहाई ॥३॥

जिन लोगों की कभी सत्संग में रुचि तथा प्रवृत्ति नहीं हुई, जो अभागे परमार्थ के पथ (दूसरों की भलाई करने से) से सदा परे रहे हैं जिन्होंने मनुष्य-शरीर (नर तनु) पाकर भी हरि का कभी नाम नहीं जपा, जिन को हरि-हर की सुकार्ति अच्छी नहीं लगती ।

तजि स्मृतिपथ वाम पथ चलहीं । वंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं ।  
तिन्ह कै गति मोहि शंकर देऊ । जननी जौं एहु जानउं भेऊ ॥४॥

जो सत्य धर्म का मार्ग छोड़ कर (वाम पथ) पर चलते हैं, जो ठग (साधु पुरुषों का) वेष धारण करके (बिरचि) संसार को छलते हैं । हे माता (जननी) ! जो मैं इस भेद (भेऊ) को जानता होऊँ (अर्थात् राम को बन भेजने का षडयन्त्र), तो शंकर भगवान् मुझे इनकी अधम गति देवें ।

माता कौशल्या भरत के सच्चे हृदय से निकले हुए सरल वाक्यों को सुन कर कहने लगीं कि हे पुत्र ! मैं जानती हूँ तुम्हें राम अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं और राम को तुम भी उतने ही प्यारे हो ।

मैं जानती हूँ और मुझे पूर्ण विश्वास है कि राम को बन भेजने में तुम्हारा रत्ती भर भी हाथ नहीं ।

अस कहि मातु भरतु हिय लाये । थनपय स्रवहिं नयन जल छाये ।

१६८, ३.

ऐसा कह कर माता कौशल्या ने भगत को अपनी हृदय (हिय) से लगा लिया और उनके स्तनों से दूध बहने लगा तथा उनकी आंखों में जल भर आया ।



## १३. शोकातुर भरत

महाराज दशरथ का दाहकर्म विधि-पूर्वक करने के पश्चात् राज्य-सभा बुलाई गई जिस में गुरुश्रेष्ठ वसिष्ठ जी भी निमंत्रित किये गए थे। सभा में आकर गुरु जी ने भरत जी को बहुत दुःखी और व्याकुल देख कर बहुत उपदेश दिया और महाराज दशरथ के देहावसान पर सान्त्वना देते हुए कहा कि :—

तात विचारु करहु मन माहीं । सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीं ॥  
अयो, १७१, १.

हे पुत्र (तात) ! मन में जरा ध्यान से विचार करो (तो तुम देखोगे कि वास्तव में) महाराज दशरथ की मृत्यु पर शोक नहीं करना चाहिये। सोचिय विप्र जो वेदविहीन। तजि निज धरमु विषय लय लीना। सोचिय नृपांत जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रानसमाना ॥

(क्योंकि) शोक (सोच) तो उस ब्राह्मण (विप्र) का करना चाहिये जो वेदों को नहीं जानता और अपने नित्य के धर्म को पालन न करके भोग-विलास में फंसा हुआ हो। उस राजा के लिये शोक करना उचित है जो नीति नहीं जानता और जो अपनी प्रजा को अपने प्राणों समान प्रेम नहीं करता।

सोचिय वयसु कृपिन धनवान् । जो न अतिथि सिव भगति सुजान् ।  
सोचिय सूद्र विप्र अपमानी । मुखर मानप्रिय ज्ञानगुमानी ॥३॥

उस वैश्य का शोक करो जो धनवान् होते हुए भी महाकंजूस (कृपिन) है और जो अतिथि-सत्कार तथा भगवान् (शिव जी) की भक्ति करने में चतुर (सुजान्=चतुर) नहीं है। उस शूद्र (सूद्र) का शोक करो जो ब्राह्मणों (विप्र) का अपमान करने वाला हो, जो मुँह-फट हो, जो अपना

मान कराने का भूखा हो और जिसे यह घमण्ड हो कि मुझे बहुत कुछ आता है ।

सोचिय पुनि पति वंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ।  
सोचिय बटु निज व्रत परिहरई । जो नहिं गुरुआयसु अनुसरई ॥४॥

फिर उस स्त्री के लिये शोक करना उचित है जो अपने पति से छल-कपट करती हो (वंचक), जो कुटिल, भगडालू और किसी की न सुन कर सदैव मनमानी क्रिया करने वाली हो । उस ब्रह्मचारी के बारे में शोक करना चाहिये जो अपने व्रतों का पालन नहीं करता, जो गुरु की आज्ञा के अनुसार नहीं चलता ।

टीका :—स्वेच्छाचारिणी वह स्त्री होती है जो अपने बड़ों से न डर कर और उनकी आज्ञा की उपेक्षा कर के जो मन में आता है वही करती है ।

सोचिय गृही जो मोहबस करइ करमपथ त्याग ।

सोचिय जती प्रपंचरत बिगत विवेक विराग ॥१७२॥

उस गृहस्थी का शोक उचित है जो मोह में फंस कर अपना धर्मपथ छोड़ चुका हो और उस संन्यासी का शोक करो जो संसारी मोह माया के भ्रमों (प्रपंच) में बहुत लिप्त हो गया हो और ज्ञान (विवेक) तथा वैराग्य भाव (अनासक्त=विराग) से रहित (बिगत) हो ।

बैखानस सोइ सोचन जोगू । तपु विहाइ जेहि भाबहि भोगू ।  
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी । जननि जनक गुरु बंधु विरोधी

॥११॥

वह तपस्वी सोचने के योग्य है जो जप-तप छोड़ (विहाइ) चुका हो और जिस को भोग-विलास भाता हो । उस का शोक करना उचित है जो चुगलखोर (पिसुन) हो, बिना कारण क्रोध करने वाला हो और माता-पिता गुरु तथा भाई-बन्धों से बैर रखता हो ।

सब विधि सोचिय परअपकारी । निज तनु पोषक निरदय भारी ।  
सोचनीय सबहि विधि सोई । जो न छाड़ि छलु हरिजन होई ॥२॥

जो मनुष्य सदा दूसरों का बुरा चाहता हो, जिस को (दूसरों का गला काट कर भी) अपने ही स्वार्थ-सिद्धि की चिन्ता रहती हो जो बड़ा निर्दय हो उस का हर प्रकार से शोक करना चाहिये । वास्तव में सब तरह से ऐसे मनुष्य के लिये शोक करना चाहिये जो छल कपट को छोड़ कर (सच्चे हृदय से) भगवान् का भक्त (हरिजन) नहीं बनता ।

सब प्रकार भूपति बड़ भागी । बादि विषाद करिय तेहि लागी ।  
एहु सुनि समुझि सोचि परिहरहू । सिर धरि राज रजायसु करहू ॥  
१७३, १.

महाराज दशरथ हर प्रकार से बड़े भाग्यवान् थे इस लिये तेरा उनके लेये (लागी) सन्ताप या शोक करना (विषाद) व्यर्थ (बादि) है । यह तुन कर और ऐसा समझ कर अब तुम शोक को दूर करो और राजा की [च्छा (रज्ञा=मर्जी) और आज्ञा (आयसु) को सिर पर धरो ।

प्राय राजपदु तुम्ह कहं दीन्हा । पिता वचन फुर चाहिअ कीन्हा  
॥२॥

राजा (राय) ने तुम्हें राजगद्दी दी है—तुम्हें पिता जी के वचनों को त्य करना चाहिये ।

इपहि वचन प्रिय नहिं प्रिय, प्राणा । करहु तात पितु वचन प्रबाना  
॥२॥

हे पुत्र (तात) ! राजा को प्राण नहीं अपने वचन प्यारे थे इस ज्ञेये तुम भी पिता के वचनों को (उनकी आज्ञा का पालन करके) त्य कहो ।

वहां पर उपस्थित मंत्रीगण भी हाथ जोड़ कर भरत से कहने लगे ।  
[अवश्य ही गुरु जी के आदेशानुसार राजगद्दी पर बैठिये । माता कौशल्या

ने भी इस का समर्थन किया, किन्तु भरत के मन की व्यथा को भगवान् के अतिरिक्त कोई न जान सकता था। उन को अपने पिता की मृत्यु का इतना दुःख न था जितना उन्हें राम, लक्ष्मण, सीता के बन चले जाने का समाचार पाकर दारुण आघात पहुँचा था। वह अपने भाइयों के वियोग में बिना जल के मच्छली की तरह तड़प रहे थे। अत एव उन्होंने गुरु जी की यह आज्ञा नहीं मानी और वह हाथ जोड़ कर बोले—

ग्रहग्रहीत पुनि वातवस तेहि पुनि बीछी मार।

ताहि पियाइय बारुनी कहहु कवन उपचार ॥१८०॥

(मेरी दशा तो इस समय ऐसी है कि) एक तो किसी मनुष्य के बुरे ग्रह पड़े हों (अर्थात् भाग्य ही मन्दा हो) फिर उसे निमोनिया (वातवस) हो गया हो और ऊपर से (पुनि) उसको बिच्छु (बीछी) ने डंक मार दिया हो और इस पर उसे मदिरा (बारुनी) पिला दी जाए तो कहिए फिर उसका क्या इलाज है ?

टीका :—अर्थात् एक तो मैं कैकेयी की कोख से जन्मा, दूसरे पिता जी का स्वर्गवास हो गया और तीसरे भाई राम, लक्ष्मण बन को सिधारे। इस पर अब आप मुझे राजतिलक की मदिरा पिलाना चाहते हो ? मेरा क्या अब किसी प्रकार से उद्धार हो सकेगा ? (निश्चय ! कभी नहीं)। हाय रे ! मेरे फूटे भाग्य !

गुरु विवेक सागर जगु जाना। जिन्ह विस्व कर-बदर-समाना।  
मो कहं तिलक साज सज सोउ। भये विधि बिमुख बिमुख सब कोउ ॥

१८१, १.

संसार जानता है कि गुरु जी ज्ञान (विवेक) के सागर हैं जिन के लिये सारा विश्व हाथ में रक्खे हुए एक बेर (बदर) के समान है। जब इतने बड़े महाज्ञानी तथा महापुरुष गुरुजी भी मुझे राजतिलक की सजावट के लिये कह रहे हैं—तो (मैं इस के अतिरिक्त और क्या कह सकता हूँ,

कि) जब विधाता का कोप होता है तो सभी मुँह मोड़ लेते हैं अर्थात् प्रतिकूल हो जाते हैं ।

परिहरि रामु सीय जग माहीं । कोउ न कहहि मोर मत नाहीं ॥२॥

श्रीराम तथा सीता को छोड़ कर संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो यह वास्तव में मानता हो कि श्रीराम को बन भेजने में मेरी कण भर भी सम्मति न थी ।

डरु न मोहि जग कहहि कि पोचू । परलोकहु कर नाहिन सोचू ।  
एकइ उर बस दुसह दवारी । मोहि लगि भे सियराम दुखारी ॥३॥

मुझे इस बात का रत्ती भर भी भय नहीं कि लोग मुझे बुग ( पोचू ) कहेंगे और न मुझे परलोक की ही चिन्ता है (क मैं ऐसा करूँ तो स्वर्ग को जाऊँगा और यह करूँगा तो नरक को जाऊँगा ) । बस ! मेरे मन (उर) में एक यही न सहने वाली (दुसह) जगल की आग (दवारी) धधक रही है कि केवल मेरे कारण ही सीता जी और श्रीराम दुखी हुए हैं (उन्होंने मेरे लिए राजपाट छोड़ कर बन की राह ली) ।

अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा । मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥  
१८२, ३.

श्रीराम ने तो कभी अपने शत्रु (अरिहु) का भी बुरा नहीं किया— फिर मैं तो चाहे मैंने उनका बहुत ही बुरा (प्रतिकूल=बामा) किया—उन का बालक और सेवक हूँ । (अतएव वह मेरा अपराध अवश्य क्षमा कर देंगे) ।

तुम्ह पै पांच मोर भल मानी । आयसु आसिष देहु सुगानी ।  
जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी । आवहि बहुरि रामु राजधानी ॥४॥

इसलिये तुम पंच लोग मेरा इसमें हित मान कर मुझे ( राम जी के

पास बन जाने की) आज्ञा दो और मुझे श्रेष्ठ वचनों से आशीर्वाद दो ।  
ताकि श्रीराम मेरी प्रार्थना सुन कर मुझे अपना सेवक (जनु) जान कर  
फिर राजधानी को लौट आवें ।

भरत वचन सब कहं प्रिय लागे । राम-सनेह-सुधा जनु पागे ।  
लोग वियोग-विषम विष दागे । मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥  
१८३,१.

भरत के वचन सब को बहुत प्रिय लगे मानो वह सब श्री रामचन्द्र  
के स्नेह रूपी अमृत में डूब गए । लोग जो राम-वियोग रूपी तीव्र विष के  
चढ़ जाने से जले मरे पड़े थे—वह भरत के वचन सुन कर ऐसे चेतन  
हो गए जैसे सर्प का काटा हुआ मनुष्य बीज-सहित ( सिद्ध ) मन्त्र से  
जाग उठता हो ।

---

## १४. मर्यादा पुरुषोत्तम राम

[ चित्रकूट में श्रीराम ने माताओं से भेंट होने पर सब से प्रथम माता कैकेयी को प्रणाम किया और माताओं में सब से पीछे अपनी जननी माता कौशल्या से मिले । ऐसा करके उन्होंने जगत् के सम्मुख भारतीय संस्कृति तथा शिष्टता का एक सर्वोत्तम उदाहरण रक्खा है और दर्शाया है कि बड़े से बड़े शत्रु को भी पराजय करने और वश में करने का यही मूल मन्त्र है ।

राम ज्ञान के सागर थे तो भरत अनन्य भक्ति की साक्षात् प्रतिमा । जहां ज्ञान और भक्ति का समावेश हो जाए, उस की प्रभुता का क्या कहना ! यही कारण है कि भरत से मिल कर राम भी इतने विद्वान् हो गए कि उन्होंने भरत से यहां तक कह दिया कि “तुम संकोच को त्याग कर जो तुम चाहते हो और जो तुम्हारे मन में है, कह दो, मैं निश्चय ही वही करूंगा” । किन्तु भरत की भक्ति कुछ दिखावे की न थी । सच्ची भक्ति कभी ज्ञान को अपने आधीन करने का साहस नहीं करती, वरन् उस की आज्ञानुसार और इच्छा के अनुकूल चलने में ही अपने को परम धन्य मानती है । भरत ने यही किया और श्रीराम के आदेशानुसार वापस अयोध्या लौट आए ।

श्रीराम सम्पूर्ण जितेन्द्रिय और अनासक्त मनुष्य थे । जो लोग उन्हें चित्रकूट मिलने आए थे जब वह वापस चले गए तो उन्हें विदा कर वह पूर्ववत् प्रकृतिस्थ हो गए । भरत से मिल कर उन के नयनों में जल भर आया था और माता कौशल्या से मिल कर उन का शरीर शिथिल हो गया था किन्तु यह सब कुछ क्षणिक था और अपने पीछे कण भर भी अपना प्रभाव न छोड़ गया था । भाई-बन्धुओं तथा अन्य

लोगों के बिदा होते ही वह पहिले के ही तरह शान्तचित्त और स्थितप्रज्ञ हो गए । ]

प्रथम राम भेंटी वैकेई । सरल सुभाय भगति मति भेई ।  
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥  
अयो. २४३.४

(माताओं में) श्रीराम ने सब से प्रथम कैकेयी से भेंट की (और उन्हें प्रणाम किया) तथा अपने सरल स्वभाव तथा भक्ति से उस की बुद्धि को ठण्डा किया (भेई) फिर वह उनके पाश्र्वों में गिर कर ज्ञान का उपदेश (प्रबोध) देने लगे कि यह सब दोष काल करम तथा विधाता के माथे मढ़ना चाहिये । (तुम अपना दोष समझ कर दुःखी मत हो) ।

भेंटी रघुबर मातु सब करि प्रबोध परितोषु ।

अब ईस आधीन जगु काहु न देइय दोषु ॥२४४॥

फिर श्रीराम अपनी और माताओं से मिले और उन को इसी प्रकार ज्ञान के वचन कह कर संतुष्ट किया कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर के आधीन है (जो वह चाहता है वैसा ही हो कर रहता है) इस लिये किसी (नर अथवा नारी) को दोष नहीं देना चाहिये ।

गुरु-तिय-पद बंदे दुहुँ भाई । सहित विप्रतिय जे संग आई  
गंग गौरि-सम सब सनमानी । देहिं असीस मुदित मृदु बानी ॥१॥

इस के पश्चात् उन दोनों भाइयों (श्रीराम व लक्ष्मण) ने गुरु जी की पत्नी और जो साथ में ब्राह्मणों की स्त्रियां आई थीं उनके चरणों में प्रणाम किया, उन्होंने उन सब का गंगा और गौरी माता (पार्वती जी) के समान आदर सत्कार किया और उन सब ने दोनों भाइयों को मीठे वचनों से आशीर्वाद दिया ।

गहि पद लगे सुमित्रा अंका । जनु भेंटी संपति अति रंका  
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता । परे प्रेम व्याकुल सब गाता २॥

फिर वह माता सुमित्रा के चरण पकड़ कर उन की गोद (अंका) में ऐसे लिपटे, माँ की किसी अत्यन्त भिखारी (अति रंका) को धन दौलत का ढेर मिल गया हो । फिर वह दोनों भाई माता कौशल्या के चरणों में गिरे—प्रेम के मारे उनके सब अंग शिथिल हो गए ।

टीका :—अन्य माताओं से मिल कर उन्हें केवल हर्ष हुआ था किन्तु माता कौशल्या के लिये उनके हृदय में इतना स्नेह था कि वह अपने आप को संभाल न सके । देखिये ! लक्ष्मण जी को अपनी माता से मिल कर इतना प्रेम नहीं उमड़ा था जितना कौशल्या जी से मिल कर हुआ । इसी से समझा जा सकता है कि कौशल्या जी अपनी सौतों के पुत्रों को भी कितना अधिक प्यार करती थीं ।

अति अनुराग अंब उर लाये । नयन स्नेह सलिल अन्हवाये ॥३॥

(माता कौशल्या ने) बहुत अधिक स्नेह के साथ उन्हें अपनी छाती से लगा लिया और नयनों से प्रेम के जल (सलिल) से उन दोनों को नहला दिया (अन्हवाये) ।

सीय आइ मुनिवर-पग लागी । उचित असीस लही मन मांगी  
२४५, १.

सीता जी आ कर गुरु वसिष्ठ जी के पात्रों पड़ीं और उन से मन-चाही उचित आशीस पाई ।

बंदि बंदि पग सिय सब ही के । आसिर वचन लहे प्रिय जी के ।  
सासु सकल जब सीय निहारी । मून्दे नैन सहमि सुकुमारी ॥२॥

सीता जी ने सभी के चरणों में प्रणाम कर अपने मन के प्यारे आशीर्वादों को प्राप्त किया । जब सीता जी ने अपनी सब सारों को देखा तो कोमलांगी सीता ने सहम कर अपनी आँखें मून्द लीं ।

टीका :—सीता जी को ध्यान आ गया कि यही वह सासैं हैं जिन में से एक के कारण ही मुझे मेरे पति तथा देवर को यह महान् विपदा

भोगनी पड़ रही है। दूसरा इस का अर्थ यह भी किया जाता है कि जब सब सासों ने सहमी (ढरी) हुई सुकुमारी सीता की ऐसी दीन और हीन दशा देखी तो उन्होंने अत्यन्त दुःखी हो कर अपनी आंखें मूंद ली अर्थात् उन से सीता को इस अवस्था में देखा न गया।

गुरु वसिष्ठ जी ने सभा में भरत के बहुत आग्रह करने पर यह परामर्श दिया कि यदि आप सब लोगों की यह इच्छा है कि श्रीराम अयोध्या जी लौट चलें और राजपाट सम्भालें तो :—

सकचर्द तात कहत एक बाता । अरध तजहिं बुध सरबसु जाता  
२५५,१.

हे पुत्र (तात=भरत) ! मैं एक बात कुञ्ज संकोच से कहता हूँ कि बुद्धिमान् सारा (सरबसु=सर्वस्व) जाता देख कर आधा (अरध) त्याग दिया (तजहिं) करते हैं।

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई । फेरियहि लषण सीय रघुराई ।  
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता । भे प्रमोद-परि-पूरन गाता ॥२॥

(अतः) यदि तुम लक्ष्मण सीता और श्रीराम को (अयोध्या) लौटाना (फेरियहि) चाहते हो तो तुम दोनों भाई (भरत तथा शत्रुघ्न) बन (कानन) को (उनके स्थान पर) जाओ। यह सुन्दर वचन सुन कर दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए और उनके सम्पूर्ण अंग (गाता) हर्ष (प्रमोद) से भर गए।

भरत जी ने कहा :—महाराज ! मैं चौदह वर्ष तो क्या जन्म भर बन में वास करूँगा। इससे बढ़ कर मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है।

कानन करउं जनम भरि बासू । एहि तैं अधिक न मोर सुपासू ॥४॥

मैं जन्म भर बन में निवास करने को तैयार हूँ—इससे बढ़ कर मेरे लिये सुख (सुपासू) और क्या हो सकता है।

भरत वचन सुनि देखि सनेहू । सभा सहित मुनि भयउ विदेहू ॥

२५६, १.

भरत के वचन सुनकर और उनका इतना अधिक स्नेह देख कर मुनि वसिष्ठ और सभा में उपस्थित सब लोग विदेह हो गये अर्थात् उन्हें अपने शरीर की सुध न रही ।

इसी लिये जब श्रीराम ने गुरु जी से कहा कि महाराज ! आशा कीजिये । मैं वही करूँगा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि “भरत-सनेह विचार न राखा” अर्थात् “भरत का इतना स्नेह देख कर मेरी ठीक २ ज्ञान-पूर्वक निर्णय करने की शक्ति मारी गई है” तथा “भरत-भगति-बस भइ मति मोरी” अर्थात् मेरी बुद्धि अब भरत की भगति के बस में हो गई है” इस लिये आप भरत की बात को आदर-पूर्वक सुनिये—इसी से मेरे विचार में हम सब का कल्याण होगा और श्रीराम की अनुमति देख कर भरत से कहा कि संकोच को त्याग कर जो तुम्हारे मन में है वह सब श्रीराम से निवेदन करो । तब भरत ने कहना प्रारम्भ किया कि पिता की मृत्यु, माता की कुबुद्धि तथा श्रीराम का वनगमन इन सब अनर्थों का मूल मैं ही हूँ । ऐसे वचन सुन कर श्रीराम ने उस को आश्वासन दिया कि :—

तात जाय जनि करहु ग्लानी । ईस अधीन जीवगति जानी ।  
तीनि काल तिभुवन मत मोरे । पुन्यसिलोक तात तर तोरे ॥

२६२, ३.

हे तात (भरत) ! तुम अपने मन में व्यर्थ ग्लानी करते हो—संसार में प्राणिमात्र की जो गति (सुख दुख) होती है वह सब ईश्वर के आधीन और उसकी आज्ञा से होती है । हे तात ! मेरे विचार में (मत मोरे) तीनों काल और तीनों लोकों (तिभुवन) में जो भी पुन्य तथा यश का लोक है वह सब तुम से उतर कर ही है (अर्थात्) तुम्हारे जैसा सुकर्म करने वाला और यशस्वी और कोई नहीं है ।

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई । जाई लोक-परलोक नसाई ॥४॥

जो तुम्हारे बारे में अपने मन (उर) में रत्ती भर भी बुरी भावना (कुटिलता) (या तुम्हारे ऊपर सन्देह) करता है, उसका यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ।

टीका :—श्रीराम ऐसा कह कर भरत को विदित करते हैं कि उन्हें उसकी नियत पर कभी भी सन्देह नहीं हुआ और उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उन्हें बन को भेजने में उस का रत्ती भर भी हाथ नहीं था ।

तात कुतरक करहु जनि जाय । वैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये ॥  
२६३, १.

हे प्यारे तात (भरत) ! तुम मिथ्या भ्रम और झूठे तर्क (कुतरक) में मत पड़ो (और व्यर्थ दुःखी मत हो) । भला ! क्या कभी वैर और प्रेम छुपाने से (दुराये) छुपे (दुरइ) रह सकते हैं ? (कभी नहीं) ।

तात तुम्हहिं मैं जानउं नीके । करउं काह असमंजसु जी के ।  
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी ॥३॥

हे तात (भरत) ! मैं तुम्हें खूब अच्छी तरह से (नीके) जानता हूँ । किन्तु कलूँ क्या ! मेरे मन को कुछ सुझाई नहीं पड़ता (असमंजस) (कि ऐसी स्थिति में मेरा क्या करना कर्तव्य है) । राजा दशरथ (राय) ने सत्य को पालन करने की खातर मुझे त्यागा (बन भेज दिया) और फिर प्रेम को निभाने के लिये अपनी बली दे दी (अपना शरीर भी त्याग दिया) ।

तासु वचन मेटत मन सोचू । तेहि तें अधिक तुम्हार संकोचू ।  
ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा । अवसि जो कहहु चहुँ सोइ कीन्हा ॥४॥

एक और तो मन को यह सोच है कि पिता जी के (तासु) वचन को कैसे मिटाऊँ अर्थात् चौदह वर्ष बन में बिताने की आज्ञा को कैसे

भंग करूँ और दूसरी ओर उस से भी अधिक मैं तुम्हारे अनन्य प्रेम को देख कर बहुत चिन्ता में पड़ गया हूँ कि क्या करूँ। उस पर ऊपर से गुरु जी ने भी मुझे यही आज्ञा (आयसु) दी है (कि जो भरत कहे वही करो) अतः जो भी तुम कहोगे वह मैं अवश्य ही करना चाहता हूँ (करूँगा)।

टीका :—यहां पर श्रीराम की चतुराई देखिये—संकेत से अपना अभिप्राय भी प्रगट कर दिया (कि मैं १४ वर्ष बन में ही रहूँगा) और गुरु जी तथा भरत का मान भी रख लिया।

इतना प्रोत्साहन पाने पर भरत ने सकुचाते २ अपने मन की अभिलाषा यों राम जी के सम्मुख निवेदन की :—

सानुज पठयइ मोहि बन कीजिय सबहिं सनाथ ।

न तरु फेरियह बंधु दोउ नाथ चलउं मैं साथ ॥२६॥

मुझे छोटे भाई के साथ (सानुज) बन भेज कर (पठइय) सब लोगों को सुखी करें (उन मृत जैसा को पुनः जीवित करें) यदि यह नहीं (न तरु) तो दोनों भाइयों (बंधु) अर्थात् लक्ष्मण और शत्रुघ्न को वापस अयोध्या जी भेज दीजिये और मैं आप के साथ बन को चलूँ।

न तरु जाहिं बन तीनउं भाई । बहुरिय सीय सहित रघुराई ॥

यदि यह भी नहीं (आप मानते) (न तरु) तो हम तीनों भाई बन को जावेंगे और आप सीता जी सहित (अयोध्या को) लौट जाएं।

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुनासागर कीजिय सोई ॥१॥

जिस प्रकार भी आपका मन प्रसन्न हो—हे कृपा के सागर ! आप वही कीजिये।

कहउं वचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ॥२॥

(किन्तु) मैं यह सब कुछ केवल अपने स्वार्थ के कारण ही कह रहा हूँ—(आप तो जानते हो) कि दुःखी (आरत) मनुष्य की बुद्धि (ज्ञान)

स्थिर नहीं रहती। (इस लिये आप जो ज्ञान के सागर हो वही कीजिये जो न्यायसंगत तथा धर्मानुसार उचित हो। मेरी बात पर न जाइये।)

भरत के स्नेह में डूबे हुए वचनों को सुन कर श्रीराम गहरी सोच में पड़ गए और सभा में जितने लोग उपस्थित थे उन सब को यह चिन्ता हुई कि देखें श्री राम अब क्या फैसला करते हैं। इतने में महाराज जनक के जनकपुरी के निवासियों सहित आगमन की सूचना मिली। महाराज जनक अपने जामाता तथा पुत्री को देख कर और महाराज दशरथ के देहावसान को स्मरण कर अत्यन्त दुःखी हुए। मुनिवर वसिष्ठ जी तथा विश्वामित्र जी ने उन्हें तथा सब को नाना प्रकार की पुराणों से कथा सुना कर और उपदेश देकर सान्त्वना दी। यह धर्म-चर्चा कई दिनों तक चलती रही। भरत जी भी यह सब कुछ सुनते रहे। धीरे २ उन की बुद्धि जो भगति तथा प्रेम के आवेश से विचलित हो गई थी, स्थिर होगई तब उन्हें ध्यान आया कि उन्होंने जो श्रीराम से अयोध्या वापसी तथा राज-पद स्वीकार करने की मांग की थी वह उन की गलती थी। अतएव उन्होंने श्रीराम से कहा :—

प्रभु पितु-वचन मोह बस पेली। आयेउं इहां समाज सकेली  
२६७,३.

हे प्रभु ! (संसारी) मोह के आवेश में आकर मैं पिता के वचनों का उल्लंघन तथा तिरस्कार (पेली) करते हुए सारे लोगों को यहां इकट्ठा (सकेली) करके ले आया हूँ।

सो मैं सब बिधि कीम्हि ढिढाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥४॥

मैंने हर प्रकार से इतनी बड़ी ढिढाई की है, परन्तु आप ने इस को केवल मेरे स्नेह का प्रतीक मान कर मुझे इस का कुछ भी दण्ड नहीं दिया।

सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयउं लाइ रजायसु बायें ॥२६६,१.

चाहे शोक से कहो चाहे स्नेह से अथवा बचपन के प्रभाव से मैं आप की आज्ञा (रजायसु) टाल कर (बायें) यहां आया।

आग्यासम न सुसाहिबसेवा। सो प्रसादु जनु पावइ देवा ॥

३००,३.

स्वामी की (सुसाहब) आज्ञा पालन के बराबर अन्य कोई सेवा नहीं है। सो हे देव (देवा) ! मुझे वही प्रसाद (अर्थात् आप की आज्ञा) मिल जावे।

टीका :—अभिप्राय यह है कि अब मेरी आप से कोई माँग नहीं है। आप जो आज्ञा देंगे मैं बिना आपत्ति किये उस का पालन करूंगा।

ऐसा कह कर भरत जी बिल्कुल प्रेम के वश में हो गए। उनके शरीर में रोमांच हो आया और उन के नेत्रों से अश्रु बहने लगे। उन्होंने व्याकुल होकर श्रीराम के चरण-कमल पकड़ लिये। श्रीराम ने मीठे वचनों से उनका सम्मान करत हुए उनका हाथ पकड़ कर उन्हें अपने पास बैठा लिया और कहने लगे :—

जानहु तात तरनि-कुल-रीती। सत्य संध पितु कीरति प्रीती

३०४,१.

हे तात (पुत्र) ! तुम सूर्य (तरनि) वंश की रीति (अर्थात् “प्राण जाहि पर वचन न जाही”) को जानते ही हो, और तुम सत्यप्रतिज्ञा वाले पिता के यश (कीरति) तथा स्नेह (प्रीति) को भी भलि भांति जानते हो।

तुम्हहि बिदित सब ही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू ॥

तुम्हें अच्छी प्रकार पता है कि सब कर्मों में कौन से धर्मानुसार हैं और कौन से अनुचित, और तुम्हें यह भी पता है कि धर्म के अनुसार तुम्हारा और मेरा दोनों का क्या २ कर्त्तव्य करने में परम हित है।

तात तात बिनु बात हमारी । केवल गुरु-कुल कृपा संभारी ।

हे तात ! पिता जी के बिना हमारी लाज तथा प्रतिष्ठा को केवल गुरु-कुल की कृपा ने बचा रक्खा है ।

न तरु प्रजा पुरजन परिवार । हमहिं सहित सब होत खुआर ॥३॥

अन्यथा प्रजा नगरवासी तथा कुटुम्बी हम सब बहुत खज्जल खवार (खुआर) होते ।

जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू । जग केहि कहहु न होइ कलेस

यदि सूर्य (दिनेसू) समय होने से पूर्व ही (बिनु अवसर) अस्त (अथव) हो जाए—तो कहिये कि जग में कितना महाक्लेश और संकट न फैलेगा ।

तस उतपात तात विधि कीन्हा । मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा ॥४॥

वैसा ही बड़ा भारी उपद्रव (पिता जी की समय से पूर्व मृत्यु हो जाने से) विधाता ने किया । परन्तु मुनिवर वसिष्ठ जी (मुनि) तथा महाराज जनक (मिथिलेस) ने हम सब की रक्षा की और हमें बचा लिया ।

टीका:—श्रीराम एक प्रकार से भरत जी को संकेत से यह उपदेश देते हैं कि मेरे पीछे से तुम राज-काज गुरु वसिष्ठ जी तथा महाराज जनक के परामर्श तथा आदेशानुसार करना, निश्चय ही परिणाम अच्छा होगा और सब का कल्याण होगा ।

सहित समाज तुम्हार हमारा । घर बन गुरु प्रसाद रखवारा ॥

३०५, १.

(क्योंकि) समाज सहित तुम्हारी और हमारी (सब की) घर में तथा बन में (हर स्थान में) गुरु की कृपा ही रक्षक होती है ।

सो तुम्ह करहु करावहु मोहू । तात तरनि-कुल-पालक होहु ॥२॥

इसलिये हे तात (पुत्र) ! तुम सत्य धर्म (पिता की आज्ञा पालन)

स्वयं करो और मुझ से भी कराओ और इस प्रकार सूर्य ( तरनि ) कुल के रक्षक बनो !

सो विचारि सहि संकटु भारी । करहु प्रजा परिवार सुखारी ॥३॥

ऐसा विचार कर और भारी संकट मह कर ( अर्थात् अपनी इच्छा के विरुद्ध भी ) तुम ( राज-पद स्वीकार करके ) प्रजा तथा कुटुम्बियों को सुखी करो ।

अन्त में श्रीराम ने भरत जी को यह उपदेश दिया कि अयोध्या जा कर राज करो किन्तु ऐसे जैसे कि :—

मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान कहं एक ।

पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ॥३१५॥

मुखिया ( राजा ) ऐसा होना चाहिये जैसे शरीर में मुख । अर्थात् खाता-पीता तो अकेला मुख है, किन्तु उस से सब अंगों का पालन-पोषण करता है—केवल अपना ही नहीं ।

राज धरम सरबसु एतनो ई । जिमि मन मांह मनोरथ गोई ॥१॥

जैसे मन में इच्छा ( मनोरथ ) गुप्त ( गोई ) रहती है । ( ऐसे ही राजा को अपनी अभिलाषाएँ प्रजा के हित के सामने दबा कर रखनी पड़ती हैं ) । वस ! राज धर्म का इतना ही सार ( सरबसु = सर्वस्व ) है ।

चित्रकूट से सब को बिदा करके श्रीराम अपनी पणकुटी में आकर ऐसे बैठ गए जैसे कुच्छ हुआ ही नहीं ।

सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परनकुटीर ।

भगति ज्ञानु वैराग्य जनु, सोहत धरे शरीर ॥

श्रीराम अपने छोटे भाई ( अनुज ) तथा सीता जी के साथ परनकुटी में आकर ऐसे विराजे ( बैठ गए ), मानो भगति ज्ञान और वैराग्य शरीर धारण करके शोभित हो रहे हों ।



## १५. नारी धर्म

[यह पतिव्रत धर्म का उपदेश बहुत सुन्दर है—इस में एक बात ध्यान से देखने के योग्य है कि जहां बूढ़े रोगी आदि पति की सेवा करने के लिये बहुत आग्रह किया गया है, यह कहीं नहीं कहा गया कि यदि पति व्यभिचारी शराबी कबाबी हो तो भी पत्नी उस की आज्ञा का पालन किया करे।]

जब श्रीराम सीता जी तथा लक्ष्मण सहित अत्रि मुनि के आश्रम में पधारं थे तो ऋषि-पत्नी, अनसूया जी ने अधिक प्रसन्न हो कर सीता जी को यह उपदेश दिया :—

मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सबु सुनु राजकुमारी ।  
अमित दानि भर्त्ता वैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥

आरण्य ४, ३.

हे राजकुमारी ! मुनो—माता-पिता भाई और हितेपी सब एक सीमा तक और नियत संख्या में स्त्री को सुख देने वाले होते हैं, किन्तु हे वैदेही (सीता) ! (केवल) पति (भर्त्ता) अनन्त तक और असंख्य (अमित) सुख देने वाला होता है—इसलिये जो नारी अपने पति की सेवा नहीं करती वह महा नीच है ।

धीरज धरम मित्र अरु नारी । आपद काल परखयहि चारी ।

धीरज धर्म मित्र तथा पत्नी की विपत्ति पड़ने पर ही जांच होती है ।

टीका :—अर्थात् यदि मनुष्य विपत्ति पड़ने पर भी अपना धीरज नहीं खोता; अपने धर्म पर स्थित रहता है; मित्र अपने मित्र की विपत्ति तथा दुःख में मित्र का साथ नहीं छोड़ता और ऐसे ही जो नारी

अपने पति को विपत्ति में छोड़ कर नहीं चली जाती वही सच्चा धीरज, धर्म मित्र तथा स्त्री है ।

वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥४॥

बूढ़ा रोगी मूर्ख कंगाल अन्धा बहरा (बधिर) क्रोधी और अत्यन्त गरीब ।

ऐसेहु पति कर किये अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना  
एकह धरम एक व्रत नेमा । काय वचन मन पतिपद प्रेमा ॥५॥

ऐसे पति का भी जो स्त्री अपमान करती है वह नरक में जा कर अनेक दुख पाती है । स्त्री के लिये वम एक पही धर्म, व्रत तथा नियम है कि वह अपने शरीर (काय) वाणी तथा मन से सदैव पति के चरणों में प्रेम रखे ।

जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं । वेद पुरान संत सब कहहीं ॥

धर्म शास्त्र (वेद-पुराण) तथा सब महात्मा लोग यह कहते हैं कि जगत् में पतिव्रता स्त्रियां चार प्रकार की होती हैं ।

उत्तम के अस बम मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥६॥

उत्तम (वर्ग की) स्त्री के मन में वम ऐसा (एक निश्चय) होता है कि जगत् में (अपने पति के अतिरिक्त) सुपने में भी अन्य (आन) पुरुष नहीं है ।

मध्यम-परपति देखइ कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥

मध्यम (वर्ग की पतिव्रता) स्त्री दूमरी स्त्री के पति को ऐसे देखती है जैसे वह उसका अपना भाई पिता या पुत्र हो ।

धरम बिचारि समुझि कुल रहई । सो निकिष्ट तिय स्मृति अस कहई  
॥७॥

भ्रुति (स्मृति=वेद पुरान) में ऐसा (अस) कहा है कि जो धर्म के

विचार से और कुल की मर्यादा (समाज के भय से) को रक्षा करने की खातिर केवल अपना पति-व्रत धर्म निभाती है (रहई) वह स्त्री (तिय) नीच (निकिष्ट=निकृष्ट) है। (अर्थात्—साधारण-वर्ग की पतिव्रता है)।

बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई ॥

जो स्त्री (पतिव्रता) केवल इसलिये रह जाती है क्योंकि उसे बिगाड़ने (पर पुरुष से संग करने) का अवसर नहीं मिला या वह डर के मारे बची रह गई है, वह (अधम) (महानोच) है। (अर्थात् घटिया वर्ग की पतिव्रता है)।

पति-बचक पर-पति-रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई ॥८॥

जो स्त्री अपने पति से छल कपट करके दूसरे मनुष्य से प्रेम करती है वह सौ (सत) कल्प (कलप) तक महान् विशेष (रौरव) नरक भोगती है।

छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी

जो क्षण भर के सुख (मजे) की खातिर सैकड़ों (सत) करोड़ों (कोटी) जन्म के होने वाले क्लेशों को नहीं समझे— उस के बराबर खोटे भाग्य का और कौन हो सकता है।

बिनु स्म नारि परम गति लहई। पतिव्रत धरम छाडि छल गहई ॥९॥

जो स्त्री छल कपट छोड़ कर पतिव्रत धर्म का पालन करती है (गहई) वह बिना किसी परिश्रम के (स्म=श्रम) परम गति को प्राप्त होती है।

पतिप्रतिकूल जनम जहं जाई। विधवा होई पाइ तरुनाई ॥१०॥

जो स्त्री पति से विमुख (प्रतिकूल) रहती है वह जवानी (तरुनाई) के आते ही शीघ्र विधवा हो जाती है।

टीका :—“पति से प्रतिकूल” अर्थात् वह स्त्री जो अपने पति को छोड़ कर पर पुरुष से प्यार करने लग जाती है—वह शीघ्र ही विधवा हो जाती है।

यह उपदेश सुन कर सीता जी ने अनसूया जी को नमस्कार किया । तत्पश्चात् श्रीराम अत्रि मुनि से विदा ले कर आगे बन में चले—श्रीराम सब से आगे उनके पीछे सीता जी और सीता जी के पीछे लक्ष्मण चल रहे थे ।

**उभय बीच सिय सोहइ कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।**

श्रीराम और लक्ष्मण जी दोनों के बीच में सीता जी चलती हुई ऐसी शोभा दे रही थी जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया हो !



## १६. शूर्पणखा

[“शूर्पणखा” का अर्थ है ऐसी स्त्री जिस के नाखून सूप जैसे हों । सूप अर्थात् सूपा (छाज) जिस से किसान लोग अनाज फटका करते हैं । इस प्रकरण के सम्बन्ध में कभी २ यह अपवाद उठाया जाता है कि श्रीराम ने शूर्पणखा से यह झूठ क्यों बोला कि मेरा छोटा भाई लक्ष्मण कुंआरा है । उसके पास जाओ और फिर अन्त में अपने भाई को उसका नाक और कान काटने का संकेत भी कर दिया । स्वयं ही उसको समझा-बुझा कर लौटा क्यों न दिया । इस अपवाद का उत्तर यह है कि शूर्पणखा अपना वास्तविक राजसी रूप त्याग कर छलने के लिये एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण करके श्रीराम के पास क्यों आई थी और फिर वह तो कामवश अन्धी होकर दोनों भाइयों पर आसक्त होकर अपनी वासना-पूर्ति के लिये यह चाहती थी कि मुझे दोनों में से कोई भी एक वर ले । क्या ऐसी अधम नारी के साथ शिष्टता के साथ पास बिठला कर बात-चीत करनी चाहिये थी ? श्रीराम ने उससे उचित तथा उपयुक्त व्यवहार किया । श्रीराम ने “कुमार” कह कर कुछ गलत अथवा झूठ नहीं कहा, वरन् संकेत से लक्ष्मण को जितला दिया कि यह कु (दुष्ट) है—इसको मार । अन्त में जब शूर्पणखा सीता जी को अपना मूल राजसी स्वरूप दिखला कर भयभीत करने लगी तो श्रीराम ने स्वयं एक नारी पर हाथ उठाकर बार करने की बजाए उसको केवल चेतावनी देने के अभिप्राय से लक्ष्मण को यह आज्ञा दी कि केवल इसके नाक-कान काट कर छोड़ दो—इसको जान से मत मारो, क्योंकि यह एक स्त्री है और इस के लिये बस इतना दण्ड ही यथेष्ट है ।]

सूपनखा रावन कै बहिनी । दुष्ट हृदय दारुण जसि अहिनी ।

शूर्पणखा रावण की बहिन थी—वह हृदय की दुष्ट और नागन

(अहिनी) जैसी दारुण (तेज जहर वाली) थी ।

पंचवटी सो गइ एक बारा । देखि बिकल भई जुगल कुमारा ॥

अरण्य. १६, २.

एक बार वह पंचवटी जो गई तो दोनों राजकुमारों (के सुन्दर स्वरूप) को देख कर व्याकुल हो उठी ।

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ।  
होइ बिकल सक मनहि न रोकी । जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी  
॥३॥

हे गरुड़ जी (उरगारी=उरग (सांप) के अरि (शत्रु) सांप के मारने वाले) ! [यह कागभुशुंडी जी कह रहे हैं] स्त्री सुन्दर पुरुष को देख कर (निरखत) चाहे वह अपना भाई हो, पिता हो या पुत्र उसी भान्ति व्याकुल हो जाती है और अपने मन को नहीं रोक सकती, जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य को देख कर (बिलोकी) पिघल जाती (द्रव) है ।

टीका :—“भ्राता पिता पुत्र”—अपने स्वयं भ्राता, पिता तथा पुत्र के लिये भी यह सम्भव तो है ही और कभी २ ऐसी घटनाएँ देखने में भी आती हैं—किन्तु बहुत ही कम संख्या में । किन्तु इस चौपाई में नारी की स्वाभाविक चंचल प्रकृति का उचित मात्रासे कुछ अधिक मात्रा में उल्लेख कर दिया गया है । कोई २ इस का अर्थ पिताके तुल्य (बड़ी अवस्था वाला) भाई के तुल्य (बराबरकी आयु का) और पुत्र के तुल्य (अपने से छोटी आयु वाला) भी करते हैं । यह बात केवल बहुत साधारण स्त्रियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है और यह पतिव्रता तथा धर्मपरायणा नारियों पर लागू नहीं होती ।

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली वचन मधुर मुसुकाई ॥

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह संजोग बिधि रचा बिचारी

॥४॥

वह सुन्दर रूप (छल से) बना कर श्रीराम (प्रभु) के पास आई और बड़ी मोठी मुस्कान के साथ यह वचन बोली । तुम्हारे जेसा कोई पुरुष और मेरे जैसी (सुन्दर) कोई नारी (सारे संसार में) नहीं है—विधाता ने यह जोड़ी (संजोग) बड़े सोच विचार के साथ रची (बनाई) है ।

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखिउं खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥  
ता तें अब लगि रहिउं कुमारी मन माना कछु तुम्हहिं निहारी ॥५॥

मैंने अपने योग्य (अनुरूप) पुरुष (वर) इस जगत् में तो क्या तीनों (तिहुँ) लोकों में ढूँढ़ मारा किन्तु नहीं मिला । इसी कारण मैं अभी तक कुंवारी हूँ—हां ! अब तुम्हें देख कर (निहारी) मेरा मन कुछ २ तुम पर रीझा (माना) है ।

टीका :—वाह री मक्कारी—मन आया भी है तो वह भी केवल थोड़ा सा—पूरा नहीं !

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता । अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ॥६॥

श्रीराम ने सीता जी की ओर देख कर कहा कि वह मेरे छोटे भाई हैं जो कुंआरे हैं ।

टीका :—इस उत्तर से श्रीराम ने शूर्पणखा और लक्ष्मण को अलग २ बात कही । शूर्पणखा से कहा कि तू अपने आप को बड़ी सुन्दरी समझे बैठी है—इधर सीता को देख—सुन्दरता इस को कहते हैं—और फिर यह भी संकेत किया कि मेरे पास तो यह एक स्त्री है ही—हां इन दिनों यह जो मेरा छोटा भाई है वह अकेला रह रहा है (चाहे विवाहित है—इसलिये कुंआरे कहा) उसको स्त्री की आवश्यकता हो सकती है—तू उसके पास जा । और उधर लक्ष्मण से कहा कि हे मेरे छोटे भाई ! इस छनाल का साहस तो देखो कि सीता जी के होते हुए यह मुझ से विवाह करना चाहती है—यह (अहइ) बड़ी दुष्ट है (कु) इस को तू मार (मार) !

शूर्पणखा तब लक्ष्मण जी के पास गई । उन्होंने उस से कहा :—

सुन्दरि सुनुं मैं उन्ह कर दासा । पराधीन नहिं तोर सुपासा ।

हे सुन्दरी ! मैं तो उन का (कर) दास हूँ । मेरे पास तेरे योग्य सुभीता (सुपासा) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं तो स्वयं पराधीन हूँ ।

टीका :—श्री लक्ष्मण जी जान गए थे कि यह शूर्पणखा है और अपने बड़े भाई का अभिप्राय समझ चुके थे—इसी लिये उन्होंने भी व्यंग से उसे “सुन्दरी” शब्द से सम्बोधन किया ।

प्रभु समर्थ कोसल-पुर राजा । जो कुछ करहि उन्हीं सब छाजा ॥७॥

मेरे स्वामी (प्रभु) मैं सब कुछ करने की समर्थ है और यह कौशलपुर के राजा हैं—यह जो कुछ भी कर लें इन्हें सब मज जाएगा (छाजा)—अर्थात् इन्हें कोई पूछने वाला नहीं, यह सीता के रहते हुए निःसंकोच तुझ से भी विवाह कर सकते हैं ।

सेवक सुख, चह मान भिखारी । व्यसनी धन, सुभगति व्यभिचारी ॥

लोभी जसु चह, चार गुमानी । नभ दुहि दूध चहतए प्रानी ॥८॥

जो सेवक हो कर सुख, भिखारी हो कर मान (आदर), व्यसनी (जुआरी-शराबी आदि) हो कर धन और व्यभिचारी हो कर शुभ गति प्राप्त करने की आशा या इच्छा करता है । जो लोभी हो कर यश की और दूत (चार) हो कर घमण्ड करने की इच्छा या आशा रखता है वह गोया आकाश ( नभ ) से दूध दुहना चाहता है ।

टीका :—अर्थात् जैसे यह सब असम्भव है उसी प्रकार सेवक की रत्नी बन कर तू कैसे सुख पा सकती है ।

तब वह राम जी के पास आई—श्रीराम ने फिर लौटा दिया । इस बार उसे श्री लक्ष्मण ने झिड़क दिया और कहा :—

लल्लिमन कहा तोहि सो वरई । जो तू न तोरि लाज परिहरई ॥९॥

लक्ष्मण ने कहा कि तुझे केवल वही वरेगा जो तिनका तोड़ कर शरम छोड़ देगा (परिहरई), अर्थात् जिस में तिनके जितनी भी लाज न होगी—पूर्ण निर्लज्ज होगा ।

तब खिसि आनि राम पहि गई । रूप भयंकर प्रगटत भई ॥१०॥

तब शूर्पणखा खिसियानी सी हो कर फिर श्रीराम के पास गई और अपने भयंकर मूल राक्षसी रूप में प्रगट हुई ।

शूर्पणखा को मूल रूप में देख कर सीता जी बहुत डर गई—तब श्रीराम ने लक्ष्मण को इशारा किया और उनके आदेशानुसार लक्ष्मण ने उस का नाक कान काट दिया ।

## १७. शबरी और भक्ति के नौ स्वरूप

[भगवान् के दरबार में न कोई छोटा है न बड़ा। राजा-कंगाल, ब्राह्मण-शूद्र, नर-नारी, गुणी-मूर्ख, वृद्ध-युवक सब एक समान हैं। “हर को भजे सो हर का होए” वहाँ पर प्रत्येक मनुष्य का मूल्य इसी एक मापदण्ड से आँका जाता है। इसीलिये श्रीराम ने शबरी से कहा कि तू नारी है और मैं पुरुष, तू भीलनी (शूद्र जाति) है और मैं सूर्यवंसी—तो इस कारण क्या हम एक दूसरे से दूर रहें? तुम भी भगवान् की एक उपासक हो और मैं भी—बस केवल इसी भक्ति के नाते से हम एक ही ज्ञात बरादरी के हुए—इसी धारणा के बल पर मैं तुम्हारे आश्रम में आया हूँ और इसीलिये मैंने तुम्हारा आतिथ्य और सत्कार सहर्ष ग्रहण किया है।

भारत में कदाचित् यह लोक-कथा भी सुनी जाती है कि श्रीराम ने शबरी के हाथ से जूठे बेर खाए थे। यह सर्वथा मिथ्या है और वाल्मीकी तथा तुलसीकृत रामायण में कहीं इस का उल्लेख नहीं मिलता।]

श्रीराम लक्ष्मण सहित शबरी के आश्रम में पहुँचे। उन्हें देख कर:—  
स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई। शबरी परी चरन लपटाई  
आरण्य ३३, ४.

शबरी एक स्याम (राम) और दूसरे गोरे (लक्ष्मण) दोनों भाइयों के चरणों में दौड़ कर लिपट गई।

प्रेम मगन मुख वचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा  
सादर जल लेई चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे ॥५॥

प्रेम के आवेश में उस के मुख से कोई शब्द नहीं निकला और वह

बार २ उन के चरण कमलों में अपना माथा टेकने लगी। बड़े प्रेम के साथ जल लाकर उसने उनके चरण धोए और फिर सुन्दर आसन रख कर उन पर उन्हें बिठलाया।

कन्द मूल फल सुरस-अति, दिये राम कहूँ आनि।

प्रेम सहित प्रभु खाये, बारम्बार बखानि ॥३४॥

(इस के पश्चात्) उसने अत्यन्त स्वन्दु (सुरस अति) कन्द मूल फल राम के पास लाकर (कहूँ आनि) दिये जिन्हें श्री राम ने बार २ सराहना और बड़ाई करके (बखानि) बहुत प्रेम के साथ खाये।

पानि जोरी आगे भई ठाढी। प्रभुहिं त्रिलोकि प्रीति उर बाढी।  
केहि बिधि अस्तुति करउं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी  
॥१॥

(तदनन्तर) वह हाथ (पानि) जोड़ कर उनके सम्मुख खड़ी होगई (भई ठाढी) और श्री राम को देखकर उसके हृदय में उनके प्रति और भी अधिक प्रीति (श्रद्धा) बढ़ी।

(वह कहने लगी) मैं किस प्रकार से तुम्हारी स्तुति करूँ—एक तो मैं अधम जाती की हूँ और दूसरे मेरी बुद्धि बड़ी मोटी (जड़=निर्जीव) है।

अधम तें अधम अधम अति नारी। तिन्ह मंहं मैं मतिमन्द अचारी।

हे पापों के शत्रु (नाश करने वाले) (अघ=पाप—अरि=शत्रु!) जो नीचों से भी नीच हैं—जियाँ उन से भी अधम होती हैं—और फिर मैं जियों में भी बहुत ही तुच्छ बुद्धि वाली हूँ।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउं एक भगती कर नाता  
॥२॥

रघुनाथ जी कहने लगे हे देवी (भामिनी)! मेरी बात सुनो। मैं तो बेबल एक भक्ति का नाता मानता हूँ।

जाति पांति कुल धर्म बढ़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ।  
भगती हीन नर सोहृद् कैसा । बिनु जल बारिद देखिये जैसा ॥३॥

जाति पाति कुल और धर्म की बढ़ाई तथा धन, बल (सेना) परिवार के लोग गुण और चतुराई । (इन सब से युक्त) पुरुष में यदि भक्ति नहीं है तो वह ऐसा ही है जैसे जल से शून्य वर्षा का बादल (बारिद) (अर्थात् व्यर्थ—उस से किसी को लाभ नहीं पहुँचता और उसका कुछ उपयोग नहीं ।)

नवधा भगति कहउ तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरु मन माहीं ।

मैं तुम्हारे पास (तोहि पाहीं) नौ प्रकार की भक्ति का वर्णन करता हूँ, तुम अपना मन मुझ में लगाकर बड़े ध्यान से सुनो ।

प्रथम भगति सन्तन्ह कर संग । दूसरी रति मम कथा प्रसंगा ॥४॥

एक भक्ति है सन्तजनों का सत्संग करना । दूसरी प्रकार की भक्ति है मेरी (मेरे जैसे महान पुरुषों, ऋषि मुनियों के जीवन-वृत्तान्तों और घटनाओं के पढ़ने और सुनने में) कथा वार्ता में अगाध प्रीति (रति) ।

गुरुपद-पंकज-सेवा तीसरी भगति अमान ।

चौथी भगती मम गुनगन करइ कपट तजि गान ॥५॥

तीसरी भक्ति है अभिमान त्याग कर (अमान) अपने गुरु के चरण कमलों की सेवा (अर्थात् उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना) और चौथी प्रकार की भक्ति है छलकपट को त्याग कर मेरे (महान पुरुषों तपस्वियों आदि के) चरित्रों को सदैव गाते रहना और उनका बखान करना ।

मंत्र जाप मम हृद विश्वासा । पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।

इसके अतिरिक्त मुझ में हृद विश्वास रखते हुए (और मेरे दिखाये हुए मार्ग पर चलते हुए) उस परम ब्रह्म परमेश्वर की मंत्र-जाप से और भजन से उपासना करना जिस का हमारे वेदों (धर्मग्रन्थों-शास्त्रों) में उल्लेख है । यह पाँचवें प्रकार की भक्ति कहलाती है ।

छूठ दम सील बिरति बहु कर्मा । निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥१॥

छूटी भक्ति है इन्द्रियों का निग्रह (दम) शील स्वभाव और बहुत कर्मों को प्रारम्भ करने की इच्छा का त्याग (बिरति) और सदैव (निरंतर) सज्जनों (सन्तों) के धर्म में मग्न और तत्पर रहना (निरत) ।

टीका :—बहुत कर्मों के करने की प्रवृत्ति के त्याग का अर्थ वही है जो श्री गीता में “सर्वारम्भपरित्यागी” से है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य जिस वातावरण और जिस समाज में है उसी के अनुसार वह अपनी विद्या तथा योग्यता से काम करने से ही सन्तुष्ट रहे । यह न सोच कर व्याकुल रहे कि यदि मैं पंजाब में जन्म न ले कर बंगाल में पैदा होता या अमरीका में होता—अथवा मैं कालेज का प्रोफ़ेसर न हो कर डाक्टर या वकालत करता तो बहुत अच्छा होता—फिर मैं यह छोड़ कर वह क्यों न कर लूं !

सातव सम मोहि मय जग देखा । मो तें संत अधिक करि लेखा

सातवां भगति है सारे संसार को मेरे ही समान (मेरा स्वरूप) समझना और उस से प्रीति करना तथा सन्त जनों को मुझ से भी अधिक प्यार करना ।

टीका :—जब परमेश्वर को मनुष्य हर स्थान में और हर समय देखता है तो फिर वह पाप कर ही नहीं सकता । यदि मनुष्य जगत् के प्राणिमात्र से उतना ही प्रेम करे जितना वह अपने माता-पिता, गुरु अथवा भगवान् से करता है तो वह सत्य मार्ग से भटकेगा नहीं—क्योंकि फिर वह किसी से द्वेष या शत्रुता कर ही नहीं सकेगा । इसीलिये श्रीराम उपदेश करते हैं कि जो भद्र जन हैं उन को तू मुझ से भी अधिक प्यार कर क्योंकि वह भी मेरा ही स्वरूप हैं । गीता में भी श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

गी. ५, ३०.

अर्थ :—जो पुरुष संपूर्ण भूतों (प्राणियों) में मुक्त (भगवान्) को (व्यापक) देखता है और संपूर्ण प्राणियों को मुक्त में स्थित देखता है—उसके लिए मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिए वह कभी नष्ट नहीं होता ।

आठव जथा लाभ सन्तोषा । सपनेहु नहि देखइ परदोषा ॥२॥

आठवी भक्ति है—भगवान् जो लाभ देवें अर्थात् जिस दशा तथा स्थिति में रखें—उस से ही सन्तुष्ट रहना और स्वप्न में भी दूसरों के दोषों को न देखना अर्थात् दूसरों के केवल गुणों पर ही दृष्टि रखना ।

नवम सरल सब मन छल हीना । मम भरोस हिय हर्ष न दीना ।

नौवीं प्रकार की भक्ति है सरल स्वभाव से रहना और सब के साथ छल त्याग कर व्यवहार करना—सदा परमेश्वर पर भरोसा रखना—न किसी बात पर हर्ष और न किसी बात पर शोक ।

टीका :—जो मनुष्य विपत्ति पड़ने पर भी यह सोच कर धीरज तथा सन्तोष रखता है कि भगवान् ने यह विपत्ति डाल कर अवश्य मेरा कुछ न कुछ कल्याण ही किया है जिस को मैं अभी समझ नहीं पाता हूँ वही भगवान् का अनन्य भक्त है । इस को कहते हैं परमात्मा पर पूर्ण विश्वास ।

नवमहुं एकउ जिन्ह के होई । नारि पुरुष सचराचर कोई सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे

इन नौ प्रकार की भक्तियों में जिन के पास एक प्रकार की भी भक्ति है वह इस जगत् में (सचराचर=स्थावर जंगम=जड़ चेतन) पुरुष हो या नारी । हे देवी (भामिनि) ! मुझे वही अत्यन्त प्यारा है और फिर तुझ में तो सब प्रकार से दृढ़ भक्ति है ।

टीका :—इस लिये तू भी मुझे बहुत प्रिय है ।

[ यहाँ पर परम भक्ति पाने के नौ साधन बताए और भक्ति के नौ दर्जे भी उल्लेख किये हैं । भक्तिमार्ग में सब से प्रथम चरण यह उठाना होता है कि मनुष्य भद्र जनों के पास बैठा करे और दुर्जनों के संग का त्याग करे । तब यदि सन्त जनों की एक बात भी उसे भा गई तो फिर वह स्वयं अच्छे और महान सन्तों के चरित्र पढ़ा करेगा अथवा सुनने लगेगा । परिणाम स्वरूप वह अपने माता-पिता गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने लगेगा और जो कुछ पढ़ेगा या सुनेगा वह अच्छी बातें सदा स्वयं मनन करेगा । परिणाम स्वरूप वह परम पिता परमात्मा के चरणों में ध्यान लगाने लगेगा—जिस से उसकी बुद्धि शुद्ध निर्मल होगी और वह जितेन्द्रिय बन जाएगा और परोपकार में लग जावेगा । तब वह प्राणिमात्र में भगवान को देखेगा और इस लिए हर एक से प्यार करेगा और किसी से भी घृणा या शत्रुता नहीं करेगा । तब उसके जीवन में एक प्रकार की अपार शान्ति आ जावेगी और उसके लिये किसी से द्वेष करना असम्भव हो जावेगा अर्थात् अनन्य भक्ति उसका अनिवार्य धर्म हो जावेगा । अभिप्राय यह है कि इस अवस्था को प्राप्त होकर मनुष्य के लिये सत्य बोलना, कोई दुराचार न करना, सब का परोपकार करना और सब से प्रेम ही करना सहज धर्म बन जाता है—वह यदि किसी का बुरा करना चाहे भी, तो भी नहीं कर सकेगा—क्योंकि अब उसकी प्रकृति ही इस प्रकार की सुदृढ़ बन चुकी है ।

यह हुए भक्ति पाने के साधन । अब साधारण दर्जे से श्रेष्ठतम वर्ग की भक्ति की क्रमशः व्याख्या इस प्रकार है । सब से साधारण श्रेणी के भक्त वे हैं जो सत्संग में उठते बैठते हैं (परन्तु आप स्वयं कुछ नहीं करते) । इस से अच्छे हैं जो वे स्वयं सन्त जनों तथा महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ते हैं और दूसरों को सुनाते हैं (किन्तु आप स्वयं उन को अपने जीवन में क्रियात्मक रूप में धारण नहीं कर पाए) । इन से ऊँचे वह भक्त हैं जो महापुरुषों के चरित्र से लाभ उठा कर अपने

गुरुजनों (माता पिता गुरु) की आज्ञा का खूब पालन करने लग जाते हैं। इन से भी ऊँची श्रेणी के वे भक्त हैं जो सदैव भगवान् की स्तुति तथा गान करते रहते हैं और भगवान् की विभूतियों का प्रचार करते रहते हैं। इन से ऊँचे वे हैं जो प्रभु के स्मरण तथा ध्यान उपासना में लगे रहते हैं। इन से श्रेष्ठ भक्त जितेन्द्रिय लोग होते हैं। इन से ऊपर सातवीं श्रेणी ऐसे भक्तों की है जो प्राणि-मात्र से यह समझ कर प्रेम करने लगते हैं कि यह भी तो भगवान् का ही रूप है। इस स्थिति के पुरुष न केवल नर-नारी को किन्तु कुत्ते बिल्ली हर पशु-पक्षी से असीम प्यार करने लगते हैं और स्वप्न में भी किसी को हानि नहीं पहुँचाते। आठवें दर्जे के भक्त परम सन्तोषी होते हैं और उनकी दृष्टि केवल अम्य पुरुषों के गुणों पर ही जाती है। सब से ऊँचे भक्त वे हैं जो मन वचन और काय से सदैव सद्व्यवहार करते हैं और सुख में तथा दुःख में एक समान रहते हैं और उन पर हर्ष अथवा शोक, स्तुति तथा निन्दा का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। ]

## १८. हनुमान परिचय

[ विजयदशमी हिन्दुओं का सब से बड़ा त्योहार है। इस शुभ अवसर पर भारतवर्ष में प्रायः सभी नगरों में रामलीला बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है। जनता लाखों की संख्या में इसे देख कर सुख और आनन्द प्राप्त करती है। किन्तु यह बहुत खेद का विषय है कि सभी स्थानों पर श्री हनुमान जी को और उनकी सेना को बन्दरों का मुखड़ा धारण करवाया जाता है, जिस को देखकर हमें सचमुच यह सन्देह होने लगता है कि क्या इस रामलीला के निर्माताओं और कार्यकर्ताओं ने कभी ध्यानपूर्वक वाल्मीकी अथवा तुलसीकृत रामायण का पाठ भी किया है या नहीं ! वास्तव में हनुमान जी बड़े शास्त्रदर्शी और विद्यापारंगत थे। श्री राम प्रथम भेंट में ही हनुमान जी की वार्तालाप सुनकर इतने चकित और प्रभावित हुए कि उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि “भाई ! यह व्यक्ति तो व्याकरण में विशेष विद्वान् प्रतीत होता है। ऋक्, यजु और सामवेद में संपूर्ण रूप से प्रवीण तथा आधिपत्य प्राप्त किये बिना कोई ऐसी शुद्ध भाषा उच्चारण नहीं कर सकता। इसने अभी तक एक भी अशुद्ध शब्द का प्रयोग नहीं किया और न ही किसी शब्द को अनुचित अथवा भ्रान्त रूप में प्रयुक्त किया है।” निःसन्देह हनुमान जी एक महान् विद्वान् व्यक्ति थे। अशोकवन में सीता जी से परिचित होने से पूर्व वह मन में यह सोच रहे थे कि मैं इस नारी से संस्कृत में बात करूँ या नहीं। ऐसे व्यक्ति की बन्दर से तुलना करना उनके साथ बोर अन्याय करना है और हमारी अज्ञानता का सूचक है। अतएव हमारा अपने पाठकों से सविनय अनुरोध है कि वह इस कुप्रथा का बलपूर्वक विरोध करें और रामलीला के करने तथा कराने वालों से जाग्रद कर दें कि वह जनता के सम्मुख हनुमान जी को बन्दर तथा बलिष्ठ

स्वरूप में सामने लाएं। इसके अतिरिक्त यह भी कितने दुःख तथा लज्जा की बात है कि हमारे मन्दिरों में जितनी भी मूर्तियां स्थापित हैं, उन सभी में उन्हें एक बड़े बन्दर की आकृति में प्रदर्शित किया जाता है। बन्दर जैसा मुख है और पीछे पूंछ लटक रही है। यह परम आवश्यक है कि ऐसी सर्व मूर्तियों को वहां से उठवा कर उनके स्थान पर मन्दिरों में परम सुन्दर मूर्तियां सुशोभित करें, जिन्हें देख कर दर्शकों और भक्तजनों के मन आकर्षित हों और उनके अन्दर अधिक प्रेम तथा श्रद्धा की भावनाएं उत्पन्न हों।

स्वामी विवेकानन्द जी ने सन् १९०१ में कैलीफोर्निया (अमरीका) में रामायण पर एक भाषण दिया जिस में उन्होंने कहा था कि “उन दिनों आर्यों को ज्ञात नहीं था कि इन सबन बन कान्तारों (किष्किन्धा) में कौन निवास करते थे। वह इन वन्य-जातियों को (बन के निवासी होने के कारण!) वानर कहते थे—और इन तथा कथित बानरों में या असभ्य जातियों में जो अत्यन्त दृढ़ और असाधारण बलसम्पन्न थे, उन्हें वह दैत्य या राक्षस कहते थे।” इसके अतिरिक्त एक कारण “वानर” कहने का यह भी हो सकता है कि इस जाति के लोग बन्दरों की भांति चुस्त चालाक चंचल और चतुर होते थे। बहुत सम्भव है कि जैसे २ समय बीतता गया, क्रमशः जनता में यह भ्रम बढ़ता गया कि हनुमान जी बन्दर थे।

रामायण की यह विलक्षणता है कि जहाँ उसने गृहस्थाश्रम में माता पिता, भाई, पत्नी आदि के उच्च स्थान को दर्शाया है, वहाँ उसने सेवक की मर्यादा और पदवी की उपेक्षा नहीं की, और सेवक की महानता का उल्लेख करना उतना ही आवश्यक समझा है। श्रीमद्भगवद्गीता में जो निष्काम कर्म का आदर्श स्थापित हुआ है, हनुमान जी उसका एक उज्ज्वल उदाहरण हैं।]

सुग्रीव की आज्ञा से हनुमान् जी ब्राह्मण का वेश धारण करके

श्रीराम लक्ष्मण के पास आते हैं और उनसे पूछते हैं कि आप कौन हो श्रीराम संक्षेप से अपना परिचय देते हैं :—

कोसलेस दशरथ के जाये । हम पितुवचन मानि बन आये ।  
नाम राम लक्ष्मिन दोउ भाई । संग नारि सुकुमारि सुहाई ॥२॥

किष्किन्धा १, १.

हम कौशल देश के राजा (ईस=ईश=स्वामी) दशरथ के पुत्र (जाये) हैं और अपने पिता की आज्ञा-पालन करने बन में आए हैं । मेरा नाम राम है और इन का लक्ष्मण । हम दोनों भाई हैं—हमारे साथ मेरी सुकुमारी सुन्दर स्त्री भी है ।

इहां हरी निसिचर वैदेही । विप्र फिरहिं हम खोजत तेही ।  
आपन चरित कहा हम गाई । कहहु विप्र निज कथा बुझाई ॥

यहां बन में किसी राजस ने मेरी स्त्री (विदेही महाराज जनक की कन्या) को हर लिया है । हे ब्राह्मण (विप्र) ! हम उसे ही खोजते फिरते हैं । हम ने अपना परिचय (चरित) स्वयं तुम्हें दे दिया है । अब हे ब्राह्मण (विप्र) ! आप अपना परिचय हमें समझा कर (बुझाई—अर्थात् खोल कर—पूरा) हमें दो ।

टीका :—देखिये ! यहां पर श्रीराम ने हनुमान् जी को दो बार ब्राह्मण कहकर पुकारा है । यदि वे बन्दर होते, तो कभी ऐसा नहीं कह सकते थे ।

तब हनुमान जी ने उन्हें पहिचान लिया । वह उनके चरण कमलों में गिर पड़े और आनन्द से विभोर होकर उनकी बहुत स्तुति करते हुए बोले :—

मोर न्याउ मैं बूड़ा साई । तुम पूछहु कस नर की नाई ।  
तब माया बस फिरउं भुलाना । ता तैं हूँ नहिं प्रभु पहिचाना ॥

हे मेरे स्वामी (साहूँ) ! मैं तो जो (साधारण नर) समान (न्याउ) हूँ इसलिए मैंने आपका परिचय पूछा—किन्तु आप क्यों एक साधारण नर की भान्ति मेरा परिचय मुझ से पूछ रहे हो । मैं तो आपकी माया में फंसा भूला भटकता फिरता हूँ और इसीलिए मैं आप स्वामी को पहिचान नहीं सका ।

टीका :—हनुमान जी श्रीराम को अपना स्वामी मानते थे और उन को भगवान् परमेश्वर की न्याहँ पूजते थे—इसी लिए “आप की माया” का वर्णन किया । अभिप्राय यह है कि मैं तो साधारण नर होने के कारण इस संसार के मोह माया में फंस कर ज्ञानी नहीं, किन्तु आप तो मर्यादा पुरुषोत्तम हो इस लिए आप से क्या मेरा परिचय कृपा है ?

एक मंद मैं मोहबस, कुटिल हृदय अज्ञान ।

पुनि प्रभु मोहि विसारेउ, दीन बन्धु भगवान् ॥२॥

हे दीन बन्धु भगवान् (स्वामी) ! एक तो मेरी मंद बुद्धि, दूसरे मैं संसार के मोह माया में फंसा हूँ, हृदय मेरा निर्मल नहीं और अज्ञानी हूँ—इतने अवगुण मुझ में पहिले ही थे—ऊपर से आपने भी भुला दिया ।

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे । सेवक प्रभुहिं परइ जनि भोरे ।  
नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ॥

२, १.

हे नाथ ! मुझ में सचमुच बहुत अवगुण हैं, तो भी स्वामी को अपना सेवक कभी नहीं (जनि) भुलाना चाहिए (परइ भोरे), हे नाथ ! आपकी माया से ही जीव मोहित होता है और आपकी कृपा पाकर (छोहा=छूने से) वह भवसागर से तर (निस्तरइ) जाता है ।

ता पर मैं रघुवीर दोहाई । जानउं नहिं कछु भजन उपाई ।  
सेवक सुत पति मातु भरोमें । रहई असोच बनइ प्रभु पोसैं ॥

२.२.

इस पर भी मैं रघुवीर जी की दुहाई (सौगन्द खाता) देता हूँ कि मुझे भजन उपासना आदि करना कोई साधन (उपाय) नहीं आता । सेवक अपने स्वामी (पति) के और पुत्र अपनी माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यह स्वयं ही हमें पाले पोसेंगे (पोसैं) ।

अस कहि परेउ चरन अकुलाई । निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥

ऐसा कहते हुए उन्होंने व्याकुल होकर श्रीराम के चरण पकड़ लिये और अपने मूल स्वरूप में प्रगट हो गए, उस समय उनके हृदय में बहुत प्रेम छा गया था ।

टीका :—मूल स्वरूप अर्थात् जो ब्राह्मण का वेश धारण किया हुआ था—उसको त्याग कर अपने वास्तविक रूप में प्रगट हो गए ।

तब रघुपति उठाइ उर लावा । निज लोचन-जल सींचि जुडावा ॥

२.३.

तब श्रीराम ने हनुमान जी को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया और अपने नेत्रों के जल से उनको ठंडा किया ।

टीका :—श्रीराम हनुमान जी की अपने प्रति इतनी प्रीति तथा भक्ति देख कर इतने प्रभावित हुए कि उनके नेत्रों से भी अश्रु बहने लगे ।

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन तैं दूना ।

(और वह बोले) हे विष्णु (कपि) सरीखे श्रेष्ठ नर ! तू अपने मन में अपने आप को कुछ कम (ऊना) मत (जनि) समझना (मानसि) । तू मुझे लक्ष्मण से भी दुगना प्यारा है ।

टीका :—विष्णु को “कपि” के नाम से भी धर्मग्रंथों में सम्बोधन किया गया है। श्रीराम कहते हैं कि लक्ष्मण जी मेरे सगे आता है इस लिये उनसे मेरा प्यार होना स्वाभाविक ही है किन्तु तुम मेरे अनन्य भक्त हो अतएव मुझे तुम उससे भी कहीं अधिक प्यारे हो।

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवकप्रिय अनन्य गति सोऊ ॥

२,४.

यह सत्य है कि मैं सब को एक समान प्रेम करता हूँ किन्तु जो मेरा अनन्य भक्त सेवक हो उसको मैं अधिक प्यार करता हूँ, क्योंकि वह केवल मुझे ही प्यार करता है—अनन्य अर्थात् और किसी को (इतना) नहीं करता।

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥३॥

हे हनुमान (हनुमंत) ! जिनकी ऐसी बुद्धि कभी टलती नहीं अर्थात् सदा रहती है कि यह चराचर (अर्थात् सब जीव मनुष्य, पशु, पक्षी आदि और निर्जीव जड़ वस्तुएं) सब मेरे स्वामी हैं अर्थात् इन हर एक में वह मुझ (भगवान्) को व्यापक देखता है और उससे ऐसा ही व्यवहार करता है जैसा स्वयं मुझ से—और मैं तो केवल उस (भगवान्) का सेवक हूँ (भक्त हूँ)—वह अनन्य है—यही अनन्य भक्ति कहलाती है अर्थात् परमेश्वर की सच्ची और वास्तविक भक्ति है।

टीका :—अब तो साईंस शनैः २ यह प्रमाणित कर रही है कि जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वह वस्तुएं भी वास्तव में प्राणमय हैं, अतः उनसे भी चेतन प्राणियों के समान प्रीति करनी चाहिये।

## १९. बाली-वध

अग्नि के साक्षी मित्रता की गांठ सुदृढ़ हो जाने के पश्चात् सुग्रीव ने अपना दुःखड़ा श्रीराम के आगे रोया कि उस की भार्या को बाली ने छीन कर अपने घर में डाल लिया है। तब श्रीराम ने बाली का वध करने का निश्चय प्रगट करते हुए सच्चे मित्र के यह लक्षण बतलाए :—  
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहिं विलोकत पातक भारी ।  
निज दुःख गिरि-सम रज करि जाना । मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥

किष्किन्धा ६, १.

जो मित्र के दुःख को सुनकर दुखी नहीं होता, उस के मुख को देखने से भी महापाप (पातक) लगता है। (सच्चा मित्र) अपने पर्वत (गिरि) समान दुःख को धूल की कण (रज) के सरीखा तुच्छ समझ कर कुछ परवाह नहीं करता, किन्तु अपने मित्र के छोटे से छोटे (रज के कण को भी) सुमेरु पर्वत के समान महान् समझ कर उसको दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है।

जिन के असि मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ।  
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥

६, २.

जिन की बुद्धि में ऐसी बात सहज से नहीं आई, वह धूर्त (महा-कपटी) मित्रता (मिताई) का ढोंग क्यों करते हैं—(कत हठि=यह ठंडोरा क्यों पीटते हैं कि हम मित्रता कर रहे हैं—यह केवल उन का हठ है—किन्तु इसमें सार कुछ नहीं) (सच्चा मित्र) मित्र को कुमार्ग से हटाता (निवारि) है और सुमार्ग पर चलाता है—उस के गुणों को प्रगट करता है और उस के दोषों को छुपाता (दुरावा) है।

देत लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ।  
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुण एहा ॥

६, ३.

(रूपये पैसे के) लेन-देन के व्यवहार में वह रस्ती भर भी अपने मित्र पर सन्देह नहीं करता और यथाशक्ति (बल के अनुमान=अनुसार) मित्र के सदा हित की बात करता है । (मित्र पर) विपत्ति पड़ने पर वह अपने मित्र से सौ गुना स्नेह करता है । श्रुति (धर्म ग्रन्थ) कहती है कि सच्चे मित्र के ये लक्षण होते हैं ।

आगे कह मृदु बचन बनाई । पाछे अनहित मन कुटिलाई ।  
जा कर चित अहि-गति सम भाई । अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥

६, ४.

जो सामने तो मीठी बातें बनावे और पीछे बुराई करे तथा मन में कपट छल तथा द्वेष भाव रखे । हे भाई ! जिस का मन सांप (अहि) जैसी (चंचल) चाल का हो, ऐसे दुष्ट मित्र को छोड़ देने में ही भलाई है ।

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी । कपटी मित्र सूल सम चारी ।

६, ५.

धूर्त सेवक, कंजूस (कृपिन) राजा, दुष्टा नारी और कपटी मित्र यह चारों शूल (एक तेज़ अस्त्र) की भान्ति (मनुष्य का अनिष्ट करने वाले) होते हैं ।

सुग्रीव राम जी के आदेशानुसार बाली से युद्ध करने चला । उस की ललकार सुनकर बाली भी जब उस से लड़ने के लिए घर से बाहर जाने लगा तो उसकी स्त्री तारा ने उसे बहुत समझाया कि यह युद्ध मत करो, आप श्रीराम के हाथों से अवश्य मारे जाओगे । बाली भी राम भक्त था—उस ने तारा को उत्तर दिया कि—

कहा बाली सुनु भीरुप्रिय, समदरसी रघुनाथ ।

जौ कदाचि मोहि मारहिं, तौ पुनि होउ सनाथ ॥७॥

बाली ने कहा—सुनो प्यारी ! तुम मेरे लिये व्यर्थ भय करके डर रही हो (भीरू=डरपोक), क्योंकि श्रीराम तो समदर्शी हैं अर्थात् वह सब को एक समान देखते हैं—इस लिये वह सुग्रीव की भांति मुझ से भी प्रेम ही करेंगे ( ऐसा मुझ को विश्वास है ), किन्तु यदि वह मुझे मार भी देंगे तो बस समझो मेरा निस्तार हो गया ( क्योंकि उनके हाथों से मारे जाने पर मैं अवश्य मोक्ष प्राप्त करूंगा )

बाली ने सुग्रीव से युद्ध किया और श्रीराम के बाण से मारा गया । मरते समय वह राम जी को अपने निकट खड़ा देख कर लाछन के तौर पर यह कठोर वचन ( ऊपर से—बनावटी—क्योंकि हृदय से तो वह राम जी का भक्त था ) बोला :—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि व्याध की नाई ।

मैं बैरी सुग्रीव पियारा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥

८, ३.

हे नाथ (गोसाईं) ! आपने तो धर्म के लिए (इस धरती पर) अवतार लिया है—फिर आप ने मुझे एक शिकारी (व्याध) की तरह क्यों मारा है ? मैं तो आप का बैरी (शत्रु) हो गया और सुग्रीव आप का प्यारा ! फिर हे स्वामी ! आप ने मुझे किस अपराध में मारा है ?

तब श्रीराम ने उत्तर दिया :—

अनुज बधू भगिनी सुतनारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ।

इन्हहिं कुट्टि त्रिलोकइ जोई । ताहि बधे कछु पाप न होई ॥

८, ४.

छोटे भाई की स्त्री, बहिन, पुत्रवधू और अपनी कन्या—हे घूर्त !—

सुनो, यह चारों एक समान होती हैं। इन में किसी को भी जो बुरी दृष्टि से देखता है, उसको जान से मार देने में कोई पाप नहीं लगता।

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करेसि न काना ॥

८, ५.

हे मूर्ख ! तुझे इतना अधिक अभिमान हो गया कि तूने अपनी स्त्री की सीख पर भी कान नहीं दिया। (परवाह नहीं की)।

सुनहु राम स्वामी सन, चलन चातुरी मोरि।

प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अन्त काल गति तोरि ॥६॥

(ऐसा सुन कर बाली बोला) हे मेरे स्वामी राम ! आप मेरी सारी चालाकी (चलन) तथा चतुराई को समझिये। मैं (आप के हाथों मर कर) परम गति अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना चाहता था तो भी मैं बड़ा पापी (पातकी) हूँ, (जो आप से यह झगड़ रहा हूँ)

सुनत राम अति कोमल बानी । बालि सीस परसेउ निज पानी ।

अचल करउं तनु राखहु प्राना । बालि कहा सुनु कृपानिधाना ॥

६, १.

भीराम ने बाली के ऐसे अत्यन्त विनीत वचन सुन कर उस के सिर पर अपना हाथ (पानी) रखा (परसेउ=मस्तक छुआ हाथ से)। (और कहा) मैं तुम्हारा शरीर अमर कर दूंगा तुम अपने प्राण रख लो—तब बाली ने कहा—हे कृपा के सागर ! मेरी बात सुनो।

जनम जनम मुनि जतन कराहीं । अन्त राम कहि आवत नाही ।

जासु नाम बल शंकर कासी । देत सबहि सम गति अविनासी ॥

६, २.

मुनि लोग कई जन्मों से बराबर प्रयत्न करते रहते हैं, किन्तु अन्त काल के समय मुख से “राम” नहीं निकलता क्योंकि सुपति ठी अन्य

संसारी विषयों में भटकती होती है। दूसरा अर्थ यह भी है कि अन्त समय वह “राम” कहते तो हैं किन्तु आप ने जैसा मुझे साक्षात् दर्शन दिये हैं वैसे उनको दर्शन नहीं देते। जिन के नाम से बल से काशी में शिव जी सब को एक समान मुक्ति प्रदान करते हैं।

**मम लोचन गोचर सोई आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥**

वही श्रीराम साक्षात् इस समय मेरी आंखों के सामने (मेरे निकट खड़े) दीख रहे हैं—फिर क्या कभी ऐसा सुन्दर समागम (बनावा) भगवान् बनावेंगे? (कभी नहीं—फिर मैं ऐसे अलौकिक शुभावसर से लाभ क्यों न उठाऊँ—अर्थात् आप ने मेरा शरीर अच्छा कर भी दिया तो मुझे फिर भी परम गति तो न मिली। सो मुझे अमर शरीर प्राप्त करने की इच्छा नहीं।

**राम चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग।**

**सुमन माल जिमि कंठ ते, गिरत न जानइ नाग॥१०॥**

श्रीराम के चरणकमलों में दृढ़ प्रीति कर बाली ने अपना शरीर ऐसे सहज प्रकार से त्याग दिया जैसे हाथी को अपने गले से फूलों की माला (सुमन माल) के टूट कर धरती पर गिर जाने की खबर भी नहीं होती।

**टीका :—**नाग अर्थात् हाथी। श्रीराम ने प्रसन्न होकर बाली से कहा था कि “अचल करुं तनु राखहु प्राना” अर्थात् तुम एक बार यह कह दो कि मैं जीवित रहना चाहता हूँ तो मैं तुम्हारे शरीर को अमर कर दूंगा—अभिप्राय यह कि तुम इस धरती पर सदैव जीवित रहोगे—तुम्हें कोई मार न सकेगा और न तुम स्वयं मरोगे। किन्तु बाली ने यह वर लेना यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इससे

मुझ को कुछ भी लाभ न होगा । शरीर तो आप मेरा अमर कर देंगे किन्तु मेरी आत्मा को सद्गति न मिलेगी और वह संसार के मोह माया में भटकती रहेगी । अतएव मैं यह पंचतत्त्व का भौतिक शरीर त्याग दूंगा—क्योंकि मेरी जन्म-जन्मांतर की साध अब पूरी हो गई है, जो साक्षात् आपके दर्शन मुझ को प्राप्त हो गए और मेरी आपके हाथों मुक्ति हो गई । इस घटना से सिद्ध होता है कि जो भगवान् के सच्चे भक्त होते हैं, उन्हें मरते समय रत्ती भर भी कष्ट नहीं होता ।

---

## २०. सीता सन्देश

[“सीता सन्देश” में हम भारत की नारी के हृदय की स्पष्ट घड़कन सुन पाते हैं। सीता जी ने वनवास के समय राम से जो यह कहा था कि “जिअ बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी” उसी के सम्बन्ध में वह अपनी वर्तमान स्थिति में अभी तक प्राण न त्याग देने का अद्भुत कारण वर्णन करते हुए अपने अत्यन्त कष्ट तथा मानसिक पीड़ा को संक्षेप से वर्णन करती हैं।]

जब हनुमान् जी लंकापुरी से लौट कर आए तो श्रीराम ने उनसे पूछा कि सीता रावण के कारावास में अपने दिन कैसे काट रही है। हनुमान् जी उत्तर में कहते हैं:—

नाम पाहरु दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।  
लोचन निज-पद-जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट ॥

सुन्दर ३०.

आप का नाम ही रात दिन उसकी चौकीदार (पहरा देते) करते हैं आप का ध्यान किवाड़ (कपाट) हैं। अपनी आंखें उसने अपने दोनों घुटनों में की हुई हैं मानो यह ताला (जंत्रित) लगा हुआ है—(जब इतनी चौकसी के साथ उसकी कड़ी निगरानी हो रही है) तो फिर प्राण किस रास्ते (बाट) से जा सकते हैं।

टीका :—हनुमान् जी की चतुरता देखिये—उन्होंने एक ही दोहे में सीता जी की दुःखी अवस्था का ऐसा अनुपम वर्णन किया है—मानो “शुक्ति में सागर” बन्द करके रख दिया है। वह कहते हैं कि रावण का कारावास तो कुछ भी नहीं, वह इससे भी भयंकर कारावास में है। वह रात दिन अपने घुटनों में मुख चुपाए बैठी रहती है—सदा आपका

ध्यान करती है और प्रतिक्षण आप का नाम अपती रहती है। रावण का कारावास तो उसे कुछ दुःख दे ही नहीं सकता—परन्तु आप उसे इस बड़े कारावास से छुड़ाइये।

चलत मोहि चूडामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही।  
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक कुमारी ॥

३०, १.

चलते समय सीता जी ने मुझे (चिन्द स्वरूप) अपनी चूडामणि दी थी। श्रीराम ने उस चूडामणि को लेकर भट अपने हृदय से लगा लिया। (हनुमान जी कहने लगे, इसके पश्चात्) हे नाथ ! सीता जी ने कुछ वचन (मुझ से) कहे।

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बन्धु प्रनतारति हरना।  
मन क्रम वचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥

३०, २.

(मेरी ओर से) स्वामी (राम) के और उनके छोटे भाई लक्ष्मण के चरण छूना (और कहना) कि हे दीनबन्धु भक्तों के दुःख-ताप (प्रनतारति) हरने वाले ! मैं तो मन वचन और कर्म सब प्रकार से आपके चरणों की दासी हूँ—नाथ ! कौन से अपराध के दण्डस्वरूप आप ने मुझे त्याग दिया है।

टीका :—लक्ष्मण के चरण छूना—सीता जी ने जो रावण से हरे जानेके पूर्व लक्ष्मण को कटु वचन कहे थे—मानो सीता ने उसकी इस प्रकार जमा मांगी—अन्यथा वह आशीर्वाद देतीं।

अवगुण एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।  
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ॥

३०, ३.

हां ! मैं मानती हूँ कि एक अवगुण (दोष) अवश्य मुझ से हुआ और वह यह कि आप से बिलुप्त कर भी मेरे प्रान निकल नहीं गये (पयाना= भागना) सो नाथ ! यह अपराध मेरे इन नेत्रों ने किया है । मेरे प्राण तो निकलना चाहते हैं किन्तु यह डट कर (हठि) इस में रुकावट (बाधा) डाल देते हैं ।

विरह अग्नि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छन माहीं सरीरा ।  
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी । जरइ न पाव देह बिरहागी ॥

३०, ४.

मेरा शरीर (तनु) रूई (तूल) के समान है और आप से वियोग (विरह) आग है । उस आग को भड़काने वाली वायु (समीरा) मेरे श्वास (आहें) हैं वह आग मेरे शरीर को एक क्षण (छन) में जला (जरइ) कर राख कर देती । (किन्तु) यह नयन अपने हित की खातिर (कि आप के दर्शन करने हैं) (लगातार) जल बहाते (स्रवहिं) रहते हैं—इस कारण आप के विरह की अग्नि अभी तक मेरे देह को फूंक न सकी ।

टीका :—सीता जी ने कैसी उत्तम रीति से यह प्रगट किया है कि मैं आपके विरह में रात दिन रोती रहती हूँ ।

सीता कै अति बिपति बिसाला । बिनहिं कहे भलि दीन दयाला ।

३०, ५.

(हनुमान जी अपनी ओर से कहते हैं) हे दीन दयाल ! सीता की विपत्ति इतनी महान (बिसाला) है कि उस का न कहना ही अच्छा है (अर्थात् उस का वर्णन नहीं हो सकता)

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलपसम बीति ।

बेगि चलिय प्रभु आनिय भुजबल खलदल जीति ॥३१॥

सीता को एक २ पल एक २ कल्प (ब्रह्मा का एक रात दिन) के

बराबर बीत रहा है। हे प्रभु ! आप बहुत शीघ्र तेज़ी के साथ चलकर (बेगि चलिय) अपने भुजबल से दुष्टों के दल (खलदल) को जीत कर (सीता को) ले आइये (आमिय)

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आये जल राजिव नयना ।  
वचन काय मन मम गति जाही । सपनेहु बूझिय विपत्तिकि ताही ॥

३१, १.

सीता के दुख की वार्ता सुन कर सुख के धाम (सुख अयना) रघुनाथ जी के कमल के समान (राजिव) नेत्रों में जल भर आया। (श्रीराम ने कहा) जो मन वचन कर्म से मेरी ही गति को प्राप्त हो चुका है—भला उसे क्या स्वप्न में भी विपत्ति छू सकती है ?

टोका :—श्रीराम कहते हैं कि हनुमान् ! तुम चिन्ता मत करो । जब सीता रात दिन मेरा ही ध्यान करती है तो रावण उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता । संकेत से वह यह भी सूचित करते हैं कि मैं अवश्य सीता को शीघ्र छुड़ा कर वापस ले आऊंगा ।

## २१. विजय का रथ

जब रावण श्रीराम से संग्राम करने चला तो वह रणभूमि में रथ पर चढ़ कर आया किन्तु श्रीराम पैदल ही आए और नंगे पाँवों। यह देख कर—

रावन रथी बिरथ रघुबीरा । देखि विभीषन-भयउ अधीरा ।  
अधिक प्रीति भा मन सन्देहा । बंदि चरन कह सहित सनेहा ॥

लंका काण्ड ७६, १.

रावण को रथ पर और श्रीराम को पैदल आते देख कर विभीषण बहुत अधीर हो गए। अधिक प्रेम होने के कारण उन के मन में शंका उत्पन्न हुई (कि ऐसे यह रण को क्यों कर जीतेंगे—कहीं उस के हाथ से यह मारें न जाएँ) अतएव श्रीराम के चरणों में नमस्कार करके वह बड़े स्नेह से कहने लगे।

नाथ न रथु नहिं तनु पदत्राना । केहि बिधि जितव बीर बलवाना ।  
सुनहु सखा कह कृपनिधाना । जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ॥

७६, २.

हे नाथ ! न आप के पास रथ है और न आप ने पाँवों में जूते (पदत्राना) पहिने हैं—फिर आप किस प्रकार ऐसे वीर और बलवान् (रावन) को जीत सकोगे (जितव)। श्रीराम कृपा के सागर बोले हे मेरे प्यारे मित्र ! जिस के द्वारा मनुष्य विजय प्राप्त करता है वह रथ (स्यन्दन) (यह नहीं) दूसरा (आना) है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सरय सील हृद ध्वजा पताका ।  
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥

७६, ३.

उस रथ के शूरवीरता और धैर्य पहिये हैं और सत्य और शील उस के सुदृढ़ ध्वजा (चिह्न) और झंडा (पताका) हैं। बल, उत्तम विचार (बिबेक) समय (दम) और परोपकार (परहित) उस में जुते हुए घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समदृष्टि की गस्तियों (रज्जु) से बंधे हैं।

टीका :—मनुष्य के लिये केवल शक्तिशाली और संयमी आदि होना ही काफी नहीं, उसको साथ-साथ क्षमा और कृपा करने वाला भी होना चाहिये, और सब को एक ही प्रेम भाव से देखना चाहिये।

ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर विज्ञान कठिन कोर्दंडा ॥

७६, ४.

उस रथ का अति चतुर (सुजाना) सारथी परमात्मा का सदैव भजन उपासना करना है। (जिसके पास ऐसा रथ है) उसकी ढाल (चर्म) वैराग्य वृत्ति (बिरति) है और परम संतोष तलवार (कृपाना) है। उसका दान करने वाला स्वभाव उसका कुल्हाड़ा (परसु) है और निर्मल बुद्धि उसकी प्रचण्ड शक्ति है और श्रेष्ठ (बर) ज्ञान मज्जबूत (कठिन) धनुष (को दंडा) है।

अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।

कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। यहि सम विजय उपाय न दूजा ॥

७६, ५

ऐसे जिस मनुष्य का तरकस (त्रोन) निर्मल (अमल) और स्थिर बुद्धि (अचल मन) है और शम (सम) यम (जम) नियम जिस के अनेक (नाना) बाण (सिलीमुख) हैं। जिसके पास ब्राह्मण (विप्र) तथा गुरु की पूजा रूपी अभेद (जो छेदा नहीं जा सकता) कवच (युद्ध के समय धारण किये जाने वाले लोहे के वस्त्र) हैं, इन के बराबर जीतने के लिये और अन्य कोई साधन (उपाय) नहीं है।

सखा धर्ममय अस रथ जा के । जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके ।

७६, ६.

हे सखा ! जिस के पास ऐसा धर्ममय रथ हो, उसके लिये जीतने को कहां और कौन शत्रु (रिपु) रह जाता है ? (अर्थात् कोई नहीं, वह प्रत्येक पर विजय अवश्य प्राप्त करेगा) ।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बोर ।

जा के अस रथ होई दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ॥८०॥

हे धीर बुद्धि रखने वाले मेरे सखा ! जिस मनुष्य के पास ऐसा मजबूत रथ है, केवल वही वीर संसाररूपी अजय शत्रु (रिपु) को जीत सकेगा (भव सागर से पार हो जाएगा) ।

टीका :—संसार रूपी शत्रु=अर्थात् यह मोह, माया और काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि ।

## २२. रावण का संहार

[ रावण का ध्यान करते ही हमारी आंखों के सामने एक ऐसे मनुष्य की मूर्ति उपस्थित हो जाती है, जो महा विकराल, दुष्ट, बर्बर तथा पापी हो, ऐसी असत्य धारणा का मूल कारण यह है कि रावण को रामायण में जहां तहां “राक्षस” कह कर पुकारा गया है। इतिहास के पढ़ने से ज्ञात होता है कि जब आर्य जाति के लोगों ने बाहर से आकर भारतवर्ष में प्रवेश किया तो उन्होंने शनैः २ इस देश के वासियों को खदेड़ कर उत्तर के प्रदेशों से निकाल कर दक्षिण की ओर भेज दिया था। महाराज दशरथ के समय तक गंगा के दक्षिणी किनारे से दुर्गम दण्डकारण्य प्रारम्भ होता था। आर्यों ने सिंधु और गंगा के किनारों के स्थानों को ही अधिकृत किया था। रावण लंका को राजधानी बना कर सारे दक्षिणपथ पर राज्य करता था। वह स्वयं महाबली था और बड़ा सज्जन था। वह चारों वेदों तथा छः शास्त्रों का ज्ञाता था। उस की जाति के लोग अनेक विद्याओं में पारंगत होकर वायुयान आदि यंत्रों का आविष्कार कर बड़े बलवान् तथा उन्नत थे यही कारण था कि उस काल की लंका सोने की लंका थी। अपने से भिन्न जाति के होने के कारण आर्य लोग इन्हें “अनार्य” “अस्याचारी” तथा “राक्षस” पुकारने लगे। आजकल “राक्षस” शब्द का हम जो साधारण अर्थ क्रूरता तथा भयंकरता समझते हैं उस रूप में रावण कदापि राक्षस न था। यह मनुष्य के लिये स्वाभाविक ही है कि वह अपने भिन्न विचार तथा धर्म के रखने वाले लोगों की जाति को अपने से बहुत नीचा समझता और उपेक्षा की दृष्टि से देखता है—जैसे कि आजकल गोरी जाति के लोग काली या रंगीन जाति के लोगों को “नीग्रो” अथवा “निग्र” Nigger कह कर पुकारते हैं।

राक्षस भी हम लोगों का भान्ति मनुष्य ही थे, पर उन्हें भयंकर सिद्ध करने के लिए उन के चित्रों में सींग लगा दिए जाते हैं। रावण आर्य था। उसके पिता विश्रवा मुनि और पितामह पुलस्त्य थे। स्थान-स्थान पर पौलस्त्य नाम का उल्लेख भी हुआ है। वह राक्षसों का राजा बन गया था, और उसने राक्षसी संस्कृति अपना ली थी। इसीसे उसकी निन्दा हुई, और वह घृणा का पात्र बन गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में अपहरण की कुप्रथा आयी तथा उन से पृथक् “राक्षस” कहलाई जाने वाली जातियों में अधिक संख्या में थी। अतएव इस कार्य को इतना घृणित और निन्दित नहीं समझा जाता था कि इसके करने वाले को अवश्य ही “राक्षस” की उपाधि दी जावे। श्री राम ने बाली का बध इस लिए नहीं किया क्योंकि उसने एक स्त्री का अपहरण किया था, वरन् इस लिए किया क्योंकि उसने अपने छोटे भाई की स्त्री का अपहरण किया, जिसे उस को अपनी कन्या के तुल्य ही समझना चाहिये था, अन्यथा यदि बाली अपने कुटुम्ब से बाहर किसी अन्य स्त्री को हर लाता तो श्रीराम की दृष्टि में वह इतना दूषित न होता। महाभारत के काल में श्री कृष्ण ने रुक्मिणी का अपहरण किया, किन्तु श्री कृष्ण को कोई राक्षस नहीं कहता।

रावण ने जब सीता को अपहरण करने के पश्चात् ध्यान से देखा तो वह उस के अद्भुत रूप पर मुग्ध हो गया और उस को निश्चय हो गया कि अभी तक जितनी सुन्दरियों के उसने अनुमति से या बलपूर्वक अधीन किया था उनका अस्तित्व सीता के सामने रसीभर भी नहीं है, परन्तु इसके साथ ही वह सीता के मुखड़े की अलौकिक आभा और तेज को देख कर इतना प्रभावित हुआ कि उसको अशोक वाटिका में पूर्णरूप से निस्सहाय पाकर भी उसका इतना साहस नहीं हुआ कि वह इस पर बलात्कार करे। सीता को देख कर रावण उस का सच्चा

प्रेमी बन गया था और उसका उसके ऊपर वासनारहित सच्चा प्यार हो गया था। वह चाहता था कि सीता भी उसको इसी प्रकार प्रेम करती हुई उसको प्रसन्नता पूर्वक पति रूप में ग्रहण करले, जिस से उसके प्रेम और उन्माद से सन्तप्त हृदय को सदा के लिए सुख और शान्ति मिले। राम को रावण के मारने में जो इतनी कठिनाई हुई और देर लगी, उस के इसी वास्तविक कारण की ओर इस प्रकरण में संकेत है।]

सीता को रावण की मृत्यु का समाचार शीघ्र से शीघ्र पाने की प्रयत्न इच्छा थी, अतएव वह राम-रावण संग्राम का वृत्तान्त थड़ी उत्सुकता के साथ सुन रही थी। जब त्रिजटा राज्ञसी ने यह कहा कि जैसे २ श्री राम रावण के सिर और भुजाएं (बाहें) काटते जाते हैं तैसे २ ही रावण के नए सिर पैदा होते जाते हैं और नई भुजाएं बनती जा रही हैं, तो सीता जी सिहर उठीं :—

मुख मलीन उपजी मन चिन्ता । त्रिजटा सन बोली तब सीता ।  
होइहि काह कहसि किन माता केहि बिधि मरिहि बिस्व-दुख दाता ॥

लंका ६८, २.

सीता का मुख मलीन हो गया और उसके मन में भारी चिन्ता उत्पन्न हुई। तब वह त्रिजटा को कहने लगी (कि) हे माता ! अब क्या होगा, आप कहती क्यों नहीं ? यह सारे संसार (विश्व) को दुख देने वाला (रावण) किस प्रकार मरेगा ।

रघुपति सर सिर कटेहु न मरई । बिधि बिपरीत चरित सब करई ।  
मोर अभाग्य जिआवत ओही । जेहि हौं हरि-पद-कमल बिछोही ॥

६८, ३.

भी रघुनाथ जी के बाणों (सर) से सिर कट जाने पर भी वह नहीं मरता । मेरा भाग्य फूट गया है, और वही यह चमत्कार दिखा रहा है । जिस फूटी तकदीर ने मुझे अपने स्वामी श्री राम के चरण कमलों से

बिछोड़ा (वियोग=बिछोही) दिया, उसी के प्रभाव से रावण भी (मर मर कर) फिर जी उठता है।

जेहि कृत कपट कनक मृग भूठा । अजहुँ सौ दैव मोहि पर रूठा ।  
जेहि विधि मोहि दुख दुसह सहाये । लछिमन कहूँ कटु वचन कहाये ॥

६८,४.

जिस मेरे दुर्भाग्य ने कपट युक्त सोने का मृग बनाया था वही आज भी मुझ पर रूठा हुआ है ! जिस दुर्भाग्य ने मुझे इतने घोर दुख भीलने को दिये और जिस ने मेरे मुख से लक्ष्मण को कटु वचन कहलवाये ।

रघुपति विरह सबिष सर भारी । तकि तकि मार बार बहु मारी ।  
ऐसेहु दुख जो राखु मम प्राना । सोई विधि ताहि जिआव न आना ॥

जिस दुर्भाग्य ने रघुनाथ जी से वियोग के विषयुक्त भारे बाणों से ताक २ कर मुझे बहुत बार मारा है । इतने महान् दुख देकर भी जिसने मेरे प्राण अभी तक बचाए रखे (और निकलने नहीं दिये), वही मेरा दुर्भाग्य रावण को। फिर से जावित कर देता है—दूसरा और (आना) कोई नहीं है ।

बहु विधि करति विलाप जानकी । करि करि सुरति कृपानिधान की ।  
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी । उर सर लागत मरइ सुरारी ॥

६८,६.

सीता जो बहुत प्रकार से विलाप करने लगीं और बार २ अपने स्वामी श्री राम को याद करने लगीं । (तब) त्रिजटा ने कहा हे राजकुमारी ! सुन—देवताओं के शत्रु (सुर-अरि) रावण के जब हृदय (उर) में बाण (सर) लगेगा, तब वह मरेगा ।

प्रभु ता तें उर हतइ न तेही । एहि के हृदय बसति धैरेही ।  
६८,७.

(किन्तु) श्री राम (प्रभु) उसके हृदय में (बाण) इस लिए नहीं मारते, क्योंकि उसके हृदय में सीता (वैदेही) का अर्थात् तुम्हारा निवास है।

टीका :—कैसा सुन्दर कारण बताया है कि अभी तक श्रीराम जी जो रावण के सिर और भुजाओं को काट रहे हैं और उसके हृदय पर बाण नहीं छोड़ते वह इस लिए है क्योंकि रावण के हृदय में तुम्हारी मूर्ति स्थापित है—यदि उस पर बाण चलावें तो तुम्हारी मूर्ति भी नष्ट हो जावेगी। श्री राम को तुम से इतना प्रेम है कि वह तुम्हारी बात तो दूर रही तुम्हारी मूर्ति को भी हानि नहीं पहुँचा सकते। इस के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास जी ने और भी कारण अगले छन्द में बताया है। किन्तु उनकी अनूठी कल्पना को देखिए। उन्होंने कैसे उत्तम ढंग से प्रगट किया है कि रावण भी कोई साधारण वीर न था, श्रीराम के बाण उसे घायन तो करते, किन्तु वह सहज में मारा न जा सका, और इसी लिये बराबर इतने दिनों संग्राम के पश्चात् उसका संहार हुआ।

आध्यात्मिक दृष्टि से इस चौपाई का अर्थ बड़ा मार्मिक है। श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय में जो कर्म, विकर्म तथा अकर्म का भेद बताया है, उसी का स्पष्टीकरण इस संकेत से किया है। मनुष्य अपने मस्तिष्क तथा बाहुबल से बड़े-बड़े कर्म तथा कार्य करता है किन्तु उनके साथ यदि मन और चित्त की निर्मलता नहीं तो उनके परिणाम महा भयंकर होंगे जैसा कि आजकल विज्ञान (साइंस) के आधार पर ऐंटम बम्ब बने हुए जगत को ध्वंस कर रहे हैं। कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिये। इसी मन के मेल को गीता “विकर्म” कहती है। कर्म और विकर्म के मेल से निष्कर्मता आती है जिस को गीता ने “अकर्म” कहा है। यदि केवल उपवास आदि बाहरी तप के साथ भीतर का मानसिक जप न हो तो यह सब व्यर्थ है। यदि मन की शुद्धि न हो तो मनुष्य अपने शारीरिक बल तथा ज्ञान (मस्तिष्क)

के जोर से जैसे-जैसे अधिक कार्य्य करेगा। वह उतना ही और पाप, दुराचार तथा कुकर्म में धंसता चला जावेगा। इस लिये चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। बाह्य कर्म के साथ यदि चित्त की पवित्रता नहीं तो मनुष्य में बुरे कर्म करने की प्रवृत्ति फिर से जाग उठती है चाहे वह कितना ही ज्ञानवान्, विद्वान् तथा बलवान् क्यों न हो जाए। इसका कारण यह है कि मस्तिष्क तथा बाहुबल वाले बाह्य कर्मों का सम्बन्ध केवल इन्द्रियों से है। इन्द्रियां यदि इन बाह्य कर्मों (विषयों) को नहीं करतीं, तो विषय तो अवश्य छूट जावेंगे, किन्तु यदि मन की शुद्ध प्रवृत्ति साथ में नहीं, तो इनमें मनुष्य की आसक्ति जूँ की तूँ बनी रहेगी। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं :—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः,

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते । २, ५६.

अर्थ :—(इन्द्रियों द्वारा) विषयों को न ग्रहण करने वाले मनुष्य के (केवल) विषय तो निवृत्त हो जाते हैं किन्तु (उन में) मन की आसक्ति नष्ट नहीं होती, वह तो भगवान् परमात्मा का (मन द्वारा जप करके मन को निर्मल करके) साक्षात् करने से ही निवृत्त होती है। इस लिये कहा गया है :—“मन के हारे हार है मन के जीते जीत।”

एहि के हृदय बस जानकी मम जानकी उर बास है।

मम उदर भुवन अनेक लागत बान सब कर नास है ॥

सुनि बचन हरष विषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटा कहा।

अब मरिहि रिपु एहि विधि सुनि सुन्दरि तजहि संसय महा ॥

(श्री राम जी सोचते हैं कि) इस (एहि) अर्थात् रावण के हृदय में जानकी और जानकी के हृदय में मेरा निवास है। मेरे हृदय में अनेक लोक (भुवन) बसते हैं—मेरा बाण लगते ही इन सब लोकों का नाश हो जावेगा। इन वचनों को सुन कर सीता जी को कुछ हर्ष हुआ

और फिर दुख हुआ । यह देख कर त्रिजटा बोली—हे सुन्दरी ! अब यह शत्रु (रिपु) जिस विधि से मरेगा वह सुनो और अपने इस महा सन्देह को अब दूर कर दो ।

काटत सिर होहि बिकल छुटि जाइहि तब ध्यान ।

तब रावण कहुं हृदय महुं मरिहहिं राम सुजान ॥६६॥

सिर कटते-कटते जब रावण बहुत व्याकुल हो जावेगा, तब उसे तुम्हारा (तब) ध्यान छूट जावेगा । ठीक उसी समय अतिचतुर श्रीराम उसके हृदय में (बाण मार कर) उसको मार डालेंगे ।

श्रीराम अपने बाणों से रावण के सिर और भुजाएं काटते-काटते बहुत थक गए, तब विभीषण ने उन्हें परामर्श दिया कि :—

नाभी कुण्ड सुधा बस या के । नाथ जियत रावनु बल ताके ॥

१०१, ३.

हे नाथ ! इस रावण के नाभिकुंड (हृदय) में अमृत (सुधा) का निवास है—उमी के बल से यह जी रहा है (और मरता नहीं) ।

यह सुन कर श्रीराम ने धनुष को अपने कानो तक खींच कर इकतीस बाण छोड़े, उन में से

सायक एक नाभिसर सोखा । अपर लगे सिर भुज करि रोखा ॥

१०२, १.

एक बाण (सायक) ने रावण का अमृत भरा नाभिकुंड सुखा दिया, और शेष (अपर=अन्य) बाण रावण के सिरों भुजाओं में बड़ी तेजी के साथ (करि रोखा) जा लगे ।

इस प्रकार रावण का संहार हुआ ।



